अध्यात्म रश्मि

(भाग-१)

-लेखक-
पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला का पुष्प नं. 508
ISBN-978-93-87891-18-0

अध्यात्म रश्मि

(भाग-2)

–लेखक –

कर्मयोगी पीठाधीश
स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी

चैत्र कृ. नवमी, भगवान ऋषभदेव जन्मजयंती के अवसर पर
ऋषभदेवपुरम्-मांगीतुंगी सिद्धक्षेत्र पर विराजमान शारदे माँ गणिनीप्रमुख
श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा घोषित ''भगवान ऋषभदेव विश्वशांति वर्ष (मार्च 2018-2019)''
के अन्तर्गत कर्मयोगी पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी के पीठाधीश
पदारोहण दिवस-मगसिर कृ. दशमी, 2 दिसम्बर 2018 के शुभ अवसर पर प्रकाशित

-प्रकाशक-

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान
जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र., फोन नं.- (01233) 280184, 280994
Website : www.jambudweep.org, www.encyclopediaofjainism.com
E-mail : jambudweeptirth@gmail.com, rk195057@yahoo.com

प्रथम संस्करण	वीर नि. सं. 2545	मूल्य
1100 प्रतियाँ	मगसिर कृ. दशमी, 2 दिसम्बर 2018	20/-रु.

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान द्वारा संचालित

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला में दिगम्बर जैन आर्षमार्ग का पोषण करने वाले हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं के न्याय, सिद्धान्त, अध्यात्म, भूगोल-खगोल, व्याकरण आदि विषयों पर लघु एवं वृहद् ग्रंथों का मूल एवं अनुवाद सहित प्रकाशन होता है। समय-समय पर धार्मिक लोकोपयोगी लघु पुस्तिकाएँ भी प्रकाशित होती रहती हैं।

-: संस्थापिका एवं प्रेरणास्रोत :-

परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी

(दो बार डी.लिट्. की मानद उपाधि से अलंकृत)

-: मार्गदर्शन :-

प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी

(पीएच.डी. की मानद उपाधि से अलंकृत)

-: निर्देशक एवं सम्पादक:-

कर्मयोगी पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी

-: प्रबंध सम्पादक :-

डॉ. जीवन प्रकाश जैन

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

कम्पोजिंग - ज्ञानमती नेटवर्क

जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.

प्रबंध सम्पादकीय

–डॉ. जीवन प्रकाश जैन

दिगम्बर जैन परम्परा में श्री कुंदकुंदाचार्य का नाम श्री गणधरदेव के पश्चात् लिया जाता है अर्थात् गणधरदेव के समान ही इनका आदर किया जाता है और इन्हें अत्यन्त प्रामाणिक माना जाता है। यथा-

मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैन धर्मोऽस्तु मंगलं।।

यह मंगल श्लोक शास्त्र स्वाध्याय के प्रारंभ में तथा दीपावली के बही पूजन व विवाह आदि के मंगल प्रसंग पर भी बोला जाता है। उन वन्दनीय आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने भव्यात्मा जीवों के लिए अनेकों महान ग्रंथों की रचना कर जिनशासन पर महान उपकार किया तथा उनके साथ-साथ अनेकानेक आचार्यों ने भी इस जैन जगत को अपनी अमूल्य कृतियाँ भेंट कीं। उसी क्रम श्रृँखला में किसी नारी द्वारा ग्रंथ लेखन का शुभारंभ बीसवीं-इक्कीसवीं सदी में गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा हुआ, जिन्होंने अपनी कृतियों के माध्यम से सम्पूर्ण विश्व में जैन कीर्तिध्वज को अत्यन्त विस्तारित कर दिखाया। चेतन-अचेतन दोनों ही कृतियों की प्रदात्री पूज्य माताजी ने आत्मकल्याण के साथ परकल्याण की भावना से अनेकों शिष्यों को मोक्षमार्ग में निकाला और उनमें सर्वांगीण योग्यता विकसित कर उन्हें विश्व के सम्मुख आदर्श रूप में प्रस्तुत किया, जिनमें से एक हम युवाओं के आदर्श परमपूज्य स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी हैं, जिन्होंने अपनी गुरुमाता से सर्वांगीण योग्यता प्राप्त कर अपने कार्यकलापों, अपनी सरल मिष्ट वाणी, अपनी निरभिमानता, स्पष्टवादिता से सभी को अत्यन्त प्रभावित किया है। पूज्य स्वामीजी के व्यक्तित्व से तो आज देश का बच्चा-बच्चा परिचित है किन्तु उनके कृतित्व से परिचित करवाने हेतु उनके द्वारा 30-35 वर्ष पूर्व पूज्य माताजी के द्वारा स्वाध्याय करके प्राप्त ज्ञान से लिखित यह सुन्दर पुस्तक है जिसमें मुनियों और श्रावकों के योग्य क्रियाओं को निश्चय-व्यवहार दृष्टि से दिग्दर्शित किया गया है और मुनिराज अपने मार्ग से डिगें नहीं इस हेतु आचार्यश्री कुंदकुंद स्वामी और सिद्धान्त चक्रवर्ती श्री नेमिचन्द्राचार्य द्वारा स्थान-स्थान पर मुनिराजों को नाना विषयों के माध्यम से सम्बोधित किया गया है तथा ऐसे मुनिराजों की वंदना कर श्रावक को अपना जीवन सफल करना चाहिए, ऐसा समझाया गया है, जिससे यह कृति लघु होकर भी महान एक कल्याणकारी रचना बन गई है।

सही मायने में तो प्राचीन पूर्वाचार्यों के समान ही पूज्य माताजी के भी हम सब पर अनन्त उपकार हैं, जिन्होंने अपने द्वारा सृजित चेतन-अचेतन रत्नों के माध्यम से जिनशासन को आत्मकल्याण के पथ पर अग्रसर होने का स्वर्णिम अवसर प्रदान किया है, अतः ऐसी परमपूज्यनीय माताजी, उनके सुयोग्य रत्न स्वस्तिश्री स्वामीजी और उनके द्वारा रचित इस कृति को नमन करते हुए इस कृति के माध्यम से भव्यात्माओं के आत्मोत्थान की मंगल कामना है।

प्रस्तावना

–ब्र. कु. इन्दु जैन (संघस्थ)

प्रसिद्ध जैनाचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी अत्यन्त वीतरागी तथा अध्यात्मवृत्ति के साधु थे और अध्यात्म विषय में वे इतना गहरा उतर चुके थे कि उनके एक-एक शब्द की गहनता को स्पर्श करना आज के तुच्छ बुद्धि व्यक्तियों की शक्ति के बाहर है। उनके अनेकों नाम प्रसिद्ध हैं तथा उनके जीवन में कुछ ऋद्धियों व चमत्कारिक घटनाओं का भी उल्लेख मिलता है। अध्यात्मप्रधानी होने पर भी वह सर्व विषयों के पारगामी थे और इसीलिए उन्होंने सर्व विषय पर अनेकों ग्रंथ रचे हैं। इनके आध्यात्मिक ग्रंथों को पढ़कर अज्ञानीजन उनके अभिप्राय की गहनता को स्पर्श न करने के कारण अपने को शुद्ध-बुद्ध व जीवन्मुक्त मानकर स्वच्छन्दाचारी बन जाते हैं परन्तु वे स्वयं महान चारित्रवान थे। भले ही अज्ञानी जगत उन्हें न देख सके पर उन्होंने अपने शास्त्रों में सर्वत्र व्यवहार और निश्चयनयों का साथ-साथ कथन किया है अतएव अज्ञानीजनों को उनके शास्त्रों को पढ़कर संकुचित एकांत दृष्टि अपनाने की बजाय व्यापक अनेकांत दृष्टि अपनाना चाहिए।

आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने जिस प्रकार समयसार, प्रवचनसार, मूलाचार, नियमसार आदि ग्रंथ रचे वहीं उन्होंने 84 पाहुड़ ग्रंथों की रचना की, जिसमें से 12 पाहुड़ उपलब्ध हैं। उन 12 पाहुड़ ग्रंथों में एक अष्टपाहुड़ ग्रंथ है, जिसमें मोक्षप्राभृत, बोधप्राभृत, सूत्रप्राभृत आदि का अध्यात्मपरक वर्णन है।

आचार्य कुन्दकुन्द आदि महान पूर्वाचार्यों के पथ का अनुसरण करते हुए भगवान महावीर के शासनकाल में किसी नारी द्वारा ग्रंथ रचना का सूत्रपात करने वाली बीसवीं-इक्कीसवीं सदी की प्रथम बाल ब्रह्मचारिणी, दिव्यशक्ति साक्षात् सरस्वतीस्वरूपा परमपूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी हैं, जिन्होंने न्याय, व्याकरण, छंद, अलंकार, अध्यात्म, सिद्धान्त, भूगोल-खगोल आदि सभी विषयों पर उच्चकोटि के 400 ग्रंथों का सृजन कर जैनागम को अमूल्य धरोहर प्रदान की है तथा अनेक उच्च कोटि के ग्रंथों का स्वयं पठन कर शिष्यों को उसकी वाचना कराई है। प्रारंभ से ही जीवन के प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करते हुए उन्होंने अपने प्रातःकालीन स्वाध्याय में शिष्यों को अनेक ग्रंथों का सार समझाया है, जिसका प्रतिफल यह ''अध्यात्म रश्मि-भाग-2'' नामक पुस्तक है, जिसका लेखन उनके सुयोग्य शिष्य पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी ने आज से 30-35 वर्ष

पूर्व किया और उस समय इसे सम्यग्ज्ञान मासिक पत्रिका के अंकों में प्रकाशित भी किया गया, उन्हें संकलित कर पुस्तक रूप में आज यह पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। चहुँमुखी प्रतिभा के धनी स्वामीजी अद्‌भुत लेखन क्षमता के भी धनी हैं, जो इस कृति से स्पष्ट झलकता है। इस 'अध्यात्म रश्मि' पुस्तक में मोक्षप्राभृत, बोधप्राभृत, सूत्रप्राभृत एवं वृहत् द्रव्यसंग्रह की कतिपय विशेष गाथाओं का सुन्दर विवेचन है, जिसमें मोक्षप्राभृत में परमयोगियों के लिए परमात्मपद, नय पद्धति, आत्मा के भेद, व्रत की महिमा आदि का कथन है, बोधप्राभृत में पञ्च महाव्रतधारी महर्षि को आयतन व दर्शन बताते हुए उनकी महिमा बताई है, सूत्रप्राभृत ग्रंथानुसार सच्चा योगी कौन है, इसका कथन है और सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्यश्री नेमिचन्द्र रचित वृहद् द्रव्यसंग्रह में निश्चय और व्यवहार से जीवात्मा का कथन किया है।

वस्तुतः आचार्यश्री कुन्दकुन्द और श्री नेमिचन्द्राचार्यस्वामी ने जो वस्तुस्थिति बताई उसे भलीभांति समझकर पूज्य स्वामीजी द्वारा लिखित राई में पर्वत और गागर में सागर के समान इस अनमोल कृति द्वारा अपने कल्याण का पथ अंगीकार करना ही सम्यग्दृष्टि का परम कर्तव्य है।

परमपूज्य भारतगौरव, दिव्यशक्ति, गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि

श्री ज्ञानमती माताजी का

मंगल आशीर्वाद

वर्तमान युग में कतिपय निश्चयाभाषी, आगम के ज्ञान से अनभिज्ञ स्वयं तो ठीक से श्रावक चर्या का पालन कर नहीं पाते हैं और आत्मा-आत्मा की रट लगाकर एकान्त पक्ष का दुराग्रह करते हैं उनके लिए महान आचार्य श्री कुन्दकुन्द के अष्टपाहुड़ आदि महान ग्रंथ एक ऐसी सौगात हैं, जिन्हें भलीभांति समझकर, व्यवहार और निश्चय दोनों का आश्रय लेकर अपनी आत्मा के यथार्थ स्वरूप को समझा जा सकता है और मुनि तथा श्रावक दोनों के करने योग्य क्रियाओं को जानकर अपनी आत्मा को समुन्नत बनाया जा सकता है। आचार्य श्री कुंदकुंददेव के अनुसार श्रावक के लिए तो सर्वप्रथम अणुव्रत ग्रहण और पाँच पाप, चार कषाय, सात व्यसन और मिथ्यात्वादि त्याग का कथन किया गया है क्योंकि परमात्म पद का कथन मुनियों के लिए घटित है, गृहस्थों के लिए नहीं।

मैंने गृहत्याग से लेकर आज तक सदैव आगम ग्रंथों का पठन-पाठन और लेखन किया है और स्वयं जीवन के प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करते हुए अपने शिष्य-शिष्याओं को भी यही शिक्षा दी है, उन्हें आगम ग्रंथों का खूब स्वाध्याय कराया है, जिससे आज इन शिष्यों में आगम ग्रंथों के प्रति विशेष समादर और विशेष ज्ञान है। आज से 30-35 वर्ष पूर्व जब अष्टपाहुड़, समयसार आदि ग्रंथों का स्वाध्याय चलता था उस समय ब्र. मोतीचंद जी, ब्र. रवीन्द्र जी एवं ब्र. माधुरी आदि उसमें बैठकर उसको अच्छी प्रकार हृदयंगम करते थे और मेरी प्रेरणा से विभिन्न विषयों पर सुन्दर विवेचन करते थे। मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है कि इन सबमें सर्वांगीण योग्यता के साथ विशेष लेखन प्रतिभा भी रही है। वैसे तो इस कृति को 30-35 वर्ष पूर्व ही छप जाना चाहिए था किन्तु रवीन्द्रकीर्ति जी द्वारा मेरी प्रेरणा से किये जाने वाले सामाजिक, शैक्षणिक, सृजनात्मक, निर्माणात्मक, धर्मप्रभावनात्मक कार्यों की अत्यन्त व्यस्ततावश उस ओर किसी का लक्ष्य ही नहीं गया। अस्तु, आचार्य श्री कुंदकुंददेव के अमूल्य वचनामृत का विवेचन इस सुंदर कृति में है, जिसके पारायण से भव्यात्मा अपनी आत्मा का कल्याण करें और निश्चयाभाषी अनेकांत को समझने में सक्षम हों, यही मंगल आशीर्वाद है।

लेखक के संदर्भ में

-प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चन्दनामती

''पूत के पाँव पालने में ही दिख जाते हैं'' यह लोकोक्ति सर्वविदित है। बचपन से ही रवीन्द्र जी (मेरे गृहस्थावस्था के ज्येष्ठ भ्राता) अत्यन्त कार्यकुशल, शांत स्वभावी, मिलनसार और तीक्ष्ण बुद्धि से समन्वित रहे, जिसके पीछे शायद उनकी जन्मतिथि श्रुतपंचमी, मेरी गृहस्थावस्था की माँ मोहिनी देवी से प्राप्त धार्मिक संस्कार और आगे जाकर पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी से प्राप्त ज्ञानामृत ही कारण रहा है।

आज 68 वर्ष की उम्र में भी 30 वर्ष के युवा के समान उनकी सतत कार्य करने की क्षमता, विशिष्ट कार्यशैली, श्रमसाध्य कार्यों को सहजता से सम्पादित करने की विलक्षण कला, स्पष्टवादिता, निरभिमानता, युवा में युवा, वृद्ध में वृद्ध और बालकों में बालक सम निश्छलता तथा सदैव हंसता-मुस्कुराता चेहरा देखकर कभी-कभी लगता है कि इतने सर्वगुणसम्पन्न होकर अगर यह दीक्षित अवस्था में होते तो शायद महान आचार्यपद पर आरूढ़ होकर धर्म की कीर्ति ध्वजा को और अधिक विस्तारित कर रहे होते परन्तु सदैव गुरुभक्ति को अपना मुख्य लक्ष्य बनाकर पूज्य माताजी द्वारा निर्देशित प्रत्येक कार्य को उनकी भावनानुसार निष्पादित करने वाले रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी सदैव ख्याति, लाभ, पूजा से दूर, किसी भी नाम, पद, प्रतिष्ठा की आकांक्षा से रहित धर्म, धर्मायतन, तीर्थसंरक्षण हेतु कटिबद्ध रहते हैं। वास्तव में ऐसे विलक्षण शिष्य, ऐसी विलक्षण संतान और ऐसे विलक्षण नागरिक से ही गुरु, माता-पिता और यह देश सदा गौरवान्वित हो विशेष प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है।

आप सभी स्वामीजी के विभिन्न कार्यकलापों से परिचित हैं, उसी शृँखला में अब एक और विशेष गुण उनके लेखन कला गुण से परिचित करवाती यह अनूठी पुस्तक आपके हाथों में है, जिसके द्वारा आप साधु और श्रावक के करने योग्य क्रियाओं का समुचित ज्ञान प्राप्त कर एकान्त दुराग्रह से हटकर अनेकांतवादी बनें और स्वामी रवीन्द्रकीर्ति जी स्वस्थ, दीर्घायु और यशस्वी जीवन के साथ विश्व को ऐसी अमूल्य निधियाँ देकर जैन जगत को गौरवशाली बनाते रहें, यही मंगल भावना है।

पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी का जीवन परिचय

–ब्र. कु. इन्दु जैन (संघस्थ)

कहा जाता है रत्नों की खान से रत्न ही निकलते हैं तभी रानी मदालसा के समान अपनी संतानों को घूंटी में धर्मामृत के संस्कार देने वाली माता मोहिनी की पवित्र कुक्षि से गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी जैसे एक नहीं अनेकों रत्न उत्पन्न हुए, जिनमें से एक हैं नवयुवकों के आदर्श, संसार को अपनी दिव्य आभा से प्रकाशमान करने वाले स्वस्तिश्री पीठाधीश रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी, जिनका जीवन किसी परिचय का मोहताज नहीं है और प्रतिपल अपने कार्यकलापों से अपना परिचय प्रदान करता है।

अवध प्रान्त के टिकैतनगर ग्राम के धर्मपरायण, देव-शास्त्र-गुरु के प्रति अकाट्य श्रद्धा रखने वाले श्रेष्ठी श्री छोटेलाल जी एवं उनकी धर्मपरायण पत्नी श्रीमती मोहिनी देवी की पवित्र कुक्षि से ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी ''जो श्रुतपंचमी के नाम से विख्यात है'' की पवित्र तिथि में नवमी संतान के रूप में उनका जन्म हुआ। पिताजी ने अपने चार पुत्रों में से इसी पुत्र को लखनऊ यूनिवर्सिटी से बी.ए. तक अध्ययन करवाया था। यूनिवर्सिटी से स्नातक होने के पश्चात् भी मोहचक्र में फंसना इन्होंने स्वीकार नहीं किया। भोगों को भोगने के बाद विरक्ति तो देखने में आती है किन्तु पूर्ण यौवन और भोगोपभोग के समस्त साधन उपस्थित होने पर उनका त्याग विरले ही प्राणी कर पाते हैं। उसी शृँखला में एक कड़ी और जुड़ी जब सन् 1968 में गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने इनकी तीक्ष्ण मेधाशक्ति देखकर 5 वर्ष का ब्रह्मचर्य व्रत प्रदान करके इन्हें धर्मग्रंथों के अध्ययन हेतु प्रेरित किया और संसार की असारता का बोध कराकर सन् 1972 में नागौर (राज.) भेजकर पूज्य आचार्यश्री धर्मसागर महाराज से आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत दिलवा दिया। उसके बाद से जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर के सर्वतोमुखी विकास हेतु ब्र. श्री मोतीचंद जी के साथ संस्थान का सम्पूर्ण दायित्व संभालते हुए सन् 1987 में यह पूज्य माताजी के पास सप्तम प्रतिमा के व्रत ग्रहण कर गृहविरत हो गये।

जम्बूद्वीप स्थल आपकी विशेष कर्मभूमि है, यहीं से अपनी धार्मिक क्रियाओं का निरतिचार पालन करते हुए आप सम्यग्ज्ञान मासिक पत्रिका का सम्पादन एवं पूज्य बड़ी माताजी एवं छोटी माताजी द्वारा लिखित सैकड़ों ग्रंथों का सम्पादन करते

रहे हैं। अपनी गुरुमाता पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा निर्देशित प्रत्येक लघु एवं वृहत् कार्यों को विशेष प्रभावना के साथ मूर्त रूप प्रदान करते हुए आप जहाँ दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान (जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर), अयोध्या दि. जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी (अयोध्या-उ.प्र.), भगवान ऋषभदेव 108 फुट मूर्ति निर्माण कमेटी (मांगीतुंगी-महाराष्ट्र), तीर्थंकर ऋषभदेव तपस्थली प्रयाग तीर्थक्षेत्र कमेटी (इलाहाबाद-उ.प्र.), भगवान महावीर जन्मभूमि कुण्डलपुर दि. जैन समिति (कुण्डलपुर-नालंदा, बिहार), भगवान पुष्पदंतनाथ जन्मभूमि काकंदी दि. जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी (काकंदी-गोरखपुर, उ.प्र.), सम्मेदशिखर में निर्मित हो रहे ''आचार्य शांतिसागर धाम'' आदि के यशस्वी अध्यक्ष हैं, वहीं अ.भा. दि. जैन युवा परिषद तथा तीर्थंकर ऋषभदेव जैन विद्वत् महासंघ के अध्यक्ष पद का भार भी कई वर्षों तक आपने संभाला है। विशेषतः इन सबमें सर्वोपरि है– भगवान ऋषभदेव की अखण्ड पाषाण में निर्मित 108 फुट उत्तुंग प्रतिमा का असाधारण कार्य, 20 वर्षों तक की गई कठोर श्रमसाधना से प्रकट गिनीज बुक ऑफ वर्ल्ड रिकार्ड में दर्ज इस अद्वितीय प्रतिमा के अभिनव चन्द्रगुप्त का गौरव प्राप्त करने वाले स्वामी रवीन्द्रकीर्ति जी में इन अनेकानेक कार्यों को करते हुए भी शिथिलता या क्रोध के भाव नहीं दिखते। आपकी सबसे बड़ी विशेषता आपकी कर्मठता, स्पष्टवादिता, सहजता, सरलता, ओजस्वी वाणी, अद्भुत कार्यशैली और हमेशा हंसता-मुस्कुराता, मधुरता बिखेरता, आइने की तरह स्वच्छ व्यक्तित्व है तभी तो आपके इन गुणों के कारण आज सारा देश स्वामीजी से परिचित हो चुका है। पूज्य माताजी से प्राप्त संस्कारों के अनुसार संघर्ष झेलकर भी सत्य को उजागर करना आपकी पहचान बन गई है।

जिनके जीवन का प्रत्येक क्षण धर्म, धर्मायतन, तीर्थ विकास, संरक्षण तथा गुरुओं की सेवा में व्यतीत हुआ है, ऐसे पूर्व में ''भाई जी'' और वर्तमान में पूज्य माताजी से 20 नवम्बर 2011 (मगसिर कृ. दशमी) में दशम प्रतिमा प्राप्त कर जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर के द्वितीय पीठाधीश बनकर ''स्वामीजी'' के नाम से जाना जाने वाला यह व्यक्तित्व अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्री परिषद द्वारा सन् 1992 में 'कर्मयोगी' की उपाधि से विभूषित किया गया, जो कि युवाओं के आदर्श बन चुके हैं। इसके साथ ही इन्हें समय-समय पर अनेकों उपाधियों से अलंकृत किया गया, जिसमें 'धर्मसंरक्षणाचार्य (सन् 1996 मांगीतुंगी पंचकल्याणक), संस्कृति संरक्षक (जम्बूद्वीप में सन् 2016 गणिनी ज्ञानमती दीक्षा स्वर्ण जयंती पर), जैन कुल गौरव (भारतवर्षीय दि. जैन महासभा), अभिनव चन्द्रगुप्त (दक्षिण

भारत जैन सभा), मैनेजमेंट गुरु (तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय-मुरादाबाद), युगपुरुष (अ.भा. दि. जैन युवा परिषद), ज्ञानरथ सारथी (अ.भा. दि. जैन महिला संगठन), सर्वोत्तम व्यवस्थापन गुरु (दक्षिण भारत उपाध्याय समिति, इचलकरंजी), लौह पुरुष (सर्वोदय तीर्थ-धारूहेड़ा, हरियाणा), आर्यिका रत्नमती कुल गौरव (पूज्य स्वामीजी के गृहस्थ परिवारजन) (फरवरी सन् 2016 में भगवान ऋषभदेव 108 फुट मूर्ति पंचकल्याणक महामहोत्सव के विराट आयोजन अवसर पर प्रदत्त) प्रमुख हैं परन्तु इन सभी विशेषताओं के होते हुए भी निरभिमान, ख्याति, लाभ, पूजा की आकांक्षा से दूर पूज्यनीय स्वामी सदैव गुरु आज्ञा में रहकर स्वयं को उनकी पदरज ही मानते हैं।

पूज्य माताजी के द्वारा संकल्पित प्रत्येक क्षेत्र में साहित्यिक, निर्माणात्मक, सृजनात्मक कार्यों को मूर्तरूप प्रदान करने वाले, विद्वत्ता के धनी स्वामीजी ने भाई जी के रूप में सन् 2000 में पूज्य माताजी की प्रेरणा से आयोजित भगवान ऋषभदेव अंतर्राष्ट्रीय निर्वाण महामहोत्सव वर्ष के अन्तर्गत न्यूयार्क-अमेरिका (यू.एन.ओ.) में आयोजित ''विश्वशांति शिखर सम्मेलन'' में जैन धर्माचार्य के रूप में सम्मिलित होकर जैनधर्म का व्यापक प्रचार-प्रसार किया और आज भी जैनधर्म के प्रचार-प्रसार हेतु सतत संलग्न हैं। वस्तुतः योग्य व्यक्ति की पहचान उसके कर्मठ व्यक्तित्व से ही होती है। पूज्यनीय स्वामीजी जैन जगत के व्योम पर देदीप्यमान वह नक्षत्र हैं जिनका जीवन, जिनका प्रत्येक क्षण अनुकरणीय, वन्दनीय, अभिवंदनीय है, ऐसे स्वामीजी के दीर्घ एवं स्वस्थ जीवन की मंगल कामना के साथ कोटिशः नमन।

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान-संक्षिप्त परिचय

—जीवन प्रकाश जैन (प्रबंध सम्पादक)

ईसवी सन् 1972 में पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी की प्रेरणा से स्थापित उक्त संस्था के द्वारा जम्बूद्वीप रचना के निर्माण हेतु मेरठ (उ.प्र.) के ऐतिहासिक तीर्थ हस्तिनापुर में नशिया मार्ग पर जुलाई 1974 में एक भूमि क्रय की गई, जहाँ सर्वप्रथम 24वें तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी की अवगाहना प्रमाण सात हाथ (सवा दस फुट) ऊँची खड्गासन प्रतिमा विराजमान करने हेतु फरवरी 1975 में एक लघुकाय जिनालय का निर्माण किया गया, जो सन् 1990 में एक अनोखे 'कमल मंदिर' के रूप में निर्मित हुआ है। यहाँ विराजमान कल्पवृक्ष भगवान महावीर से यह अतिशय क्षेत्र निरंतर प्रगति पथ पर अग्रसर होता हुआ नित्य नये निर्माणों के द्वारा संसार में अद्वितीय पर्यटन स्थल के रूप में प्रसिद्ध हुआ है। इस प्रतिमा के दर्शन करके भक्तगण अपनी मनोकामनाएँ पूर्ण करते हैं।

जम्बूद्वीप निर्माण का प्रथम चरण—जुलाई सन् 1974 में रखी गई नींव के आधार पर जम्बूद्वीप के बीचोंबीच में सर्वप्रथम आगम वर्णित सुमेरुपर्वत (101 फुट ऊँचा) का निर्माण अप्रैल सन् 1979 में एवं सन् 1985 में जम्बूद्वीप रचना का निर्माण पूर्ण हुआ। सोलह जिनमंदिरों से समन्वित उस सुमेरुपर्वत के अंदर से निर्मित 136 सीढ़ियों से चढ़कर श्रद्धालु भक्त समस्त भगवन्तों के दर्शन करके जब सबसे ऊपर पाण्डुकशिला के निकट पहुँचते हैं, तो नीचे जम्बूद्वीप रचना के सभी नदी, पर्वत, मंदिर, उपवन आदि दृश्यों के साथ-साथ हस्तिनापुर के आसपास के सुदूरवर्ती ग्रामों का भी प्राकृतिक सौंदर्य देखकर फूले नहीं समाते हैं।

यात्री सुविधा—हस्तिनापुर तीर्थ में जम्बूद्वीप स्थल के पूरे परिसर में संस्थान द्वारा कार्यालय का सक्रिय संचालन किया जाता है। वहाँ यात्रियों के ठहरने हेतु आधुनिक सुविधायुक्त 200 कमरे, 50 से अधिक डीलक्स फ्लैट एवं अनेकों गेस्ट हाउस (बंगले) बने हुए हैं। इसके साथ ही यहाँ सुन्दर भोजनालय है जहाँ यात्रियों को सुविधापूर्वक शुद्ध भोजन प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त 2 किमी. दूर हस्तिनापुर सेन्ट्रल टाउन में सरकारी अस्पताल, डाकखाना, बाजार, इंटरकालेज तथा अन्य शिक्षण संस्थाएँ आदि सभी आवश्यक सुविधाएँ उपलब्ध हैं।

हस्तिनापुर कैसे पहुँचे ?—भारत की राजधानी दिल्ली से 110 किमी. पश्चिमी उत्तरप्रदेश में जिला-मेरठ से 40 किमी. दूर हस्तिनापुर तीर्थ है। राजधानी दिल्ली से हस्तिनापुर के लिए अंतर्राज्यी बस अड्डे अथवा आनंद विहार बस अड्डे से उत्तरप्रदेश रोडवेज तथा डी.टी.सी. बसों की निरंतर सेवा उपलब्ध है। मेरठ से भी प्रति आधे घंटे के अंतराल से जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर पहुँचने हेतु रोडवेज की बसें सुलभता के साथ उपलब्ध रहती हैं। 'जम्बूद्वीप' के नाम से ये बसें चलती हैं जो सीधे जम्बूद्वीप के सामने ही रुकती हैं और जम्बूद्वीप से ही मेरठ, दिल्ली, तिजारा आदि यात्रा हेतु बसें उपलब्ध रहती हैं। दिल्ली और मेरठ के बीच रेल सेवा भी है। देश-विदेश के यात्रीगण हस्तिनापुर पधारकर इस धरती का स्वर्ग मानी जाने वाली 'जम्बूद्वीप रचना' के दर्शन करें और मानसिक शांति का अनुभव करते हुए मनवांछित फल प्राप्त करें, यही मंगलकामना है।

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला के शिरोमणि संरक्षक

1. श्रीमती निर्मला जैन ध.प. स्व. श्री प्रेमचन्द्र जैन, तत्पुत्र प्रदीप कुमार जैन, खारी बावली, दिल्ली-6।
2. श्रीमती सुमन जैन ध.प. श्री दिग्विजय सिंह जैन, इंदौर।
3. श्री महावीर प्रसाद जैन संघपति, जी-19, साऊथ एक्सटेन्शन, नई दिल्ली।
4. श्री महेन्द्र पाल हरेन्द्र कुमार जैन, सूरजमल विहार, दिल्ली।
5. श्रीमती मोहनी जैन ध.प. श्री सुनील जैन, प्रीत विहार, दिल्ली।
6. श्री देवेन्द्र कुमार जैन (धारूहेड़ा वाले) गुड़गाँव (हरि.)।
7. श्रीमती शारदा रानी जैन ध.प. स्व. रिखबचंद जैन, बाहुबली एन्क्लेव, दिल्ली-92।
8. डॉ. देवेन्द्र कुमार जैन, भोपाल (म.प्र.)
9. श्रीमती संगीता जैन ध.प. श्री संजीव कुमार जैन, शेरकोट (बिजनौर) उ.प्र.
10. श्री अनिल कुमार जैन, दरियागंज, दिल्ली
11. श्री बी.डी. मदनाइक, मुम्बई
12. श्री धनकुमार जैन, बाहुबली एन्क्लेव, दिल्ली-92।
13. श्री जितेन्द्र कुमार जैन एवं श्रीमती सुनीता जैन कोटड़िया, फ्लोरिडा, यू.एस.ए.
14. श्रीमती विमला देवी जैन ध.प. श्री ओमप्रकाश जैन, स्वालिक नगर, हरिद्वार (उत्तराखंड)।
15. श्री अमित, संभव जैन सुपुत्र श्रीमती अनीता जैन ध.प. श्री मूलचंद जैन पाटनी, दिसपुर (आसाम)
16. श्रीमती अजित कुमारी जैन ध.प. श्री महेन्द्र कुमार जैन, ओबेदुल्लागंज (रायसेन) म.प्र.।
17. श्री नाभिकुमार जैन, जैन बुक डिपो, सी-4, पी.वी.आर. प्लाजा के पीछे, कनॉट प्लेस, नई दिल्ली।

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला के परम संरक्षक

1. श्री माँगीलाल बाबूलाल पहाड़े, हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश)।
2. डॉ. प्रकाशचन्द्र जैन, 792 विवेकानंदपुरी, सिविल लाइन, सीतापुर (उ.प्र.)।
3. श्री सुमत प्रकाश जैन, गज्जू कटरा, शाहदरा, दिल्ली।
4. श्री सुनील कुमार जैन, द्वारा-सुनील टैक्सटाईल्स, सरधना (मेरठ) उ.प्र.।
5. स्व. श्री प्रकाश चंद अमोलक चंद जैन सर्राफ, सनावद (म.प्र.)।
6. श्री प्रद्युम्न कुमार जवेरी, रोकड़ियालेन, बोरीवली (वेस्ट) मुंबई।
7. श्रीमती उर्मिला देवी ध.प. श्री कान्ती प्रसाद जैन, ऋषभ विहार, दिल्ली।
8. श्रीमती उषा जैन ध.प. श्री विमल प्रसाद जैन, ऋषभ विहार, दिल्ली।
9. श्री आनन्द प्रकाश जैन (सौरम वाले) , गांधीनगर, दिल्ली।
10. श्रीमती सरिता जैन ध.प. श्री राजकुमार जैन, किदवई नगर, कानपुर।
11. स्व. श्रीमती कैलाशवती ध.प. श्री कैलाश चन्द्र जैन , तोपखाना बाजार, मेरठ।
12. श्री भानेन्द्र कुमार जैन, द्वारा-श्री विद्या जैन, भगत सिंह मार्ग, जयपुर।
13. श्री प्रदीप कुमार शान्तिलाल बिलाला, अनूपनगर, इंदौर, (म.प्र.)।
14. श्री सुरेशचंद पवन कुमार जैन, बाराबंकी (उ.प्र.)।
15. श्री नथमल पारसमल जैन, कलकत्ता-7।
16. श्रीमती स्व. शांताबाई ध.प. श्री कमलचंद जैन, सनावद (म.प्र.)।
17. श्री रूपचंद जैन कटारिया, दिल्ली
18. श्री आशु जैन, कालका जी, नई दिल्ली
19. श्री प्रद्युम्न कुमार जैन छोटी सा., श्री अमरचंद जैन सर्राफ, लखनऊ (उ.प्र.)
20. श्रीमती शशि जैन ध.प. श्री दिनेशचंद जैन, शिवालिक नगर, हरिद्वार (उत्तराखंड)।
21. स्व. सुशीला देवी-स्व. एडवोकेट जम्मनलाल, संघपति प्रमोद-सौ. सुनीता, कु. अंजली, ऋषभ, मनोज कासलीवाल जैन, औरंगाबाद (महा.)
22. डॉ. पन्नालाल-सौ. कुमकुमदेवी, संजय-सौ. अंजली, अजय-सौ. रिद्धी, कु. ब्राह्मी पापड़ीवाल, पैठण-औरंगाबाद, विजय-सौ. माधुरी, प्रशान्त-सौ. कोमल, चि. युवम पापड़ीवाल, पैठण-औरंगाबाद (महा.)

अध्यात्म रश्मि

मोक्षप्राभृतम्

(कतिपय विशेष गाथाओं पर)

प्रसिद्ध जैनाचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने जिस प्रकार से समयसार, नियमसार, प्रवचनसार आदि ग्रंथों की रचना की है उसी प्रकार अष्टपाहुड़ ग्रंथ की भी रचना की है। उन्हीं अष्टपाहुड़ में से यहाँ मोक्षपाहुड़ के कतिपय विशेष गाथाओं का सार यहाँ दिया जा रहा है। इस पाहुड़ ग्रंथ की गाथाएँ तो श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने लिखी हैं तथा इसकी संस्कृत टीका श्री श्रुतसागरसूरि ने लिखी है।

णमिऊण य तं देवं अणंतवरणाणदंसणं सुद्धं।
वोच्छं परमप्पाणं परमपयं परमजोईणं।।२।।

अर्थ—अनन्त ज्ञान एवं अनन्तदर्शन से युक्त निर्मलस्वरूप उन सर्वज्ञ वीतराग देव को नमस्कार कर मैं परमयोगियों के लिए परम पद रूप परमात्मा का कथन करूँगा।

प्रश्न—इस गाथा के अर्थ में आपने सर्वज्ञ वीतराग देव शब्द का प्रयोग किया है। यह किन देवों का द्योतक है ?

उत्तर—सर्वज्ञ—वीतराग शब्द उन्हीं देवों के लिए प्रयुक्त होता है जिन्होंने चारों घातिया कर्मों का नाश कर केवलज्ञान प्राप्त कर लिया है तथा घातिया-अघातिया आठों कर्मों को नष्ट कर सिद्ध अवस्था को प्राप्त देव की भी सर्वज्ञ संज्ञा आती है। ऐसे देवों को अरहन्त परमेष्ठी एवं सिद्ध परमेष्ठी कहते हैं।

प्रश्न—जब चार घातिया कर्मों को नष्ट करने पर सर्वज्ञ संज्ञा प्राप्त हो जाती है तथा आठों कर्मों के नष्ट होने के बाद भी सर्वज्ञ संज्ञा प्राप्त होती है तो दोनों में अन्तर क्या है ?

उत्तर—"सर्वं जानाति इति सर्वज्ञः" जो सब कुछ जानता है वह सर्वज्ञ कहलाता है। चार घातिया कर्मों के नष्ट हो जाने पर केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। उस समय केवलज्ञानी आत्मा संसार के समस्त द्रव्य एवं उनके समस्त पर्यायों को जान लेता है,

उनके ज्ञान में तीनों काल की समस्त पर्यायें झलकने लगती हैं। इसी प्रकार आठों कर्मों के समूल नष्ट होने के बाद सिद्ध पद प्राप्त होता है। वहाँ भी तीनों कालों की समस्त पर्यायों के ज्ञाता सिद्ध भगवान् हो जाते हैं। इससे यह समझना चाहिये कि ज्ञान की अपेक्षा दोनों अवस्थाओं में कोई अन्तर नहीं है इसीलिए दोनों अवस्थाओं में सर्वज्ञ शब्द प्रयुक्त हो रहा है। दूसरी बात यह है कि सर्वज्ञ शब्द गुणवाची है और ज्ञान गुण की अपेक्षा अरहन्त और सिद्ध में कोई अन्तर नहीं है इसलिए दोनों अवस्थाओं में आचार्यों ने सर्वज्ञ शब्द का स्थान-स्थान पर प्रयोग किया है, इसमें कोई दोष नहीं है।

प्रश्न—आपने सर्वज्ञ शब्द के सम्बन्ध में तो जानकारी दे दी है, लेकिन वीतराग शब्द के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा ?

उत्तर—वीतराग शब्द का प्रयोग यहाँ पर अरिहंत, सिद्ध परमेष्ठी के लिए हुआ है। वीतराग शब्द का अर्थ "विगतः रागः यस्मात् सः वीतरागः" अर्थात् निकल गया है राग जिसमें से, वह वीतराग कहा जाता है और जहाँ तक मोहनीय कर्म लगा हुआ है वहाँ तक राग का सद्भाव अवश्यंभावी है, ऐसा सिद्धान्त वचन है। दसवें गुणस्थान तक मोहनीय कर्म का सद्भाव पाया जाता है इसलिए यहाँ तक तो सिद्धान्त से सराग अवस्था ही समझना चाहिए।

प्रश्न—आपने बताया कि दसवें गुणस्थान तक सराग अवस्था है तब तो ११वें-१२वें गुणस्थानवर्ती तो वीतरागी कहे जायेंगे ?

उत्तर—११ वें एवं १२वें गुणस्थानवर्ती जीवों की भी वीतरागी संज्ञा है, लेकिन ११वें व १२वें गुणस्थान का काल बहुत छोटा है तथा वहाँ उपशम व क्षपक श्रेणी होने से छद्मस्थ अवस्था भी है, पूर्ण अवस्था नहीं है। यहाँ पर चूँकि सर्वज्ञ के साथ वीतराग शब्द का प्रयोग हुआ है इसलिए अरिहंत-सिद्ध के लिए ही है। पुनः पूर्ण वीतरागता तो इसी अवस्था में पाई जाती है।

प्रश्न—समयसार में तो वीतराग अवस्था चौथे गुणस्थानवर्ती श्रावक एवं छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनियों के लिए प्रयुक्त हुई है ?

उत्तर—समयसार ग्रंथ की गाथाएँ आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने लिखी हैं तथा इसकी संस्कृत टीका श्री अमृतचंद्र सूरी एवं आचार्य श्री जयसेन स्वामी ने लिखी है। इन तीनों आचार्यों ने तो समयसार में कहीं चतुर्थ गुणस्थानवर्ती को या छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती को वीतरागी शब्द का प्रयोग किया नहीं है। यदि कोई हिन्दी टीकाकार या आजकल के व्याख्याकार ऐसा अर्थ घटित करते हैं तो उन्हें सिद्धान्तशास्त्रों से अनभिज्ञ समझना चाहिए। हाँ, आचार्य श्री जयसेन स्वामी ने सातवें से बारहवें तक शुद्धोपयोग वीतराग आदि अवस्था कहा है, लेकिन वह सातवाँ गुणस्थान श्रेणी चढ़ने की अपेक्षा है अर्थात् आठवें गुणस्थान में

जाने वाला सातवें का दूसरा पाया है; क्योंकि सातवें गुणस्थान के दो पाये हैं एक पाया गिरने की अपेक्षा वाला है और दूसरा चढ़ने की अपेक्षा वाला है दोनों में अन्तर है।

प्रश्न—सर्वज्ञ वीतराग शब्द का प्ररूपण तो स्पष्ट हो गया, अब आप यह बताइए कि मूल गाथा में अनंत ज्ञान एवं अनंत दर्शन ये दो शब्द प्रयुक्त किये हैं, जबकि अरिहन्त-सिद्ध परमेष्ठी को अनन्त चतुष्टय से युक्त माना जाता है ?

उत्तर—अनंत ज्ञान एवं अनंत दर्शन को यहाँ देशामर्शक न्याय से अनंत चतुष्टयवाची ही समझना चाहिये, इसमें कोई दोष नहीं है; क्योंकि अनेक स्थानों पर आचार्यों ने ऐसे अल्प शब्दों के प्रयोग किये हैं जिनका विस्तार टीकाकार करते आए हैं, वही स्थिति यहाँ भी है। यहाँ टीकाकार श्री श्रुतसागरसूरी ने लिखा है—"अनंतवरज्ञानदर्शनं शुद्धं-अनंतज्ञानमनन्तदर्शनमनन्तवीर्यमनन्तसौख्यमित्यर्थः शुद्धं।"

प्रश्न—गाथा की दूसरी लाइन में आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव ने लिखा है कि परमपद को प्राप्त ऐसे परमात्मा का कथन करूँगा, किसके लिए ? परमयोगियों अर्थात् मुनियों के लिए, ऐसा क्यों ? क्या गृहस्थों से कहने में कोई बाधा थी ?

उत्तर—यह प्रश्न आपका बहुत ही न्यायपूर्ण एवं उचित है; क्योंकि कोई-कोई गृहस्थ तो मुनियों से भी अधिक ज्ञानवान् हो सकते हैं, फिर गृहस्थों से कहने में क्या बाधा थी ? इसका समाधान इस गाथा की टीका में स्वयं श्रुतसागरसूरी ने किया है-

"मैं परमयोगियों अर्थात् दिगम्बर गुरुओं के लिए यह कथन करूँगा, इस प्रतिज्ञावाक्य से यह सूचित होता है कि परमात्मा का ध्यान मुनियों के ही घटित होता है। तपे हुए लोहे के गोले के समान गृहस्थों को परमात्मा का ध्यान संगत नहीं होता। उनके लिए तो दान, पूजा, पर्व के दिनों में उपवास करना, सम्यक्त्व का पालन करना तथा शील व्रत की रक्षा करना आदि गृहस्थ धर्म का उपदेश ही कार्यकारी होता है। जो गृहस्थ होते हुए भी तथा रंचमात्र आत्मा की भावना को न भाते हुए भी यह कहते हैं कि हम तो आत्मा का ध्यान करते हैं वे जिनधर्म की विराधना करने वाले हैं। ऐसे जीव मुनियों के आचार से तो रहित हैं ही, गृहस्थ धर्म से भी पतित होकर उभयभ्रष्ट अर्थात् दोनों से पतित हो जाते हैं।

इस उपर्युक्त टीका के कथन में आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव के कथन की ही पुष्टि की गई है; क्योंकि आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव ने चारित्रपाहुड़ एवं रयणसार में श्रावकों के लिए पृथक् से कथन किया है इसलिए यह सब कथन पदानुकूल समझने में क्या हानि है ? जैसे कोई चौथी क्लास की पुस्तक है और कोई छठी क्लास की पुस्तक है तो छठी क्लास के विद्यार्थियों को छठी क्लास की पुस्तक पढ़ाई जायेगी और चौथी क्लास के विद्यार्थी को चौथी क्लास की पुस्तक पढ़ाई जायेगी-वही दोनों के लिए कार्यकारी है उसी प्रकार मोक्षमार्ग में भी पदानुकूल चर्या ही लाभकारी है। एक उदाहरण से इस विषय

को और सपष्ट समझना चाहिए। मान लीजिए–मुनियों के मूलगुण में खड़े होकर आहार लेना, केशलोंच करना आदि क्रियाएँ कही हैं। स्वयं कुन्दकुन्द आचार्य ने लिखा है—"खेडेऽपि ण कादव्वं पाणिपत्तं सचेलक्क" अर्थात् लीला मात्र के लिए भी गृहस्थों को पाणिपात्र में आहार नहीं ग्रहण करना चाहिए।

मुनियों की क्रियाएँ हँसी में भी गृहस्थों को नहीं करनी चाहिये अन्यथा पुण्यबंध की बजाय प्रचुर पापबंध होगा। सभी क्रियाएँ आगमानुकूल एवं पदानुकूल ही शोभनीय, प्रशंसनीय एवं कर्मनिर्जरा की कारण बन सकती हैं अन्यथा कर्म बंध की कारण हो जाएंगी।

जं जाणिऊण जोई जोअत्थो जोइऊण अणवरयं।
अव्वाबाहमणंतं अणोवमं लवइ णिव्वाणं।।३।।

अर्थ—जिस आत्मतत्त्व को जानकर तथा जिसका निरंतर साक्षात् कर योगी–ध्यानस्थ मुनि, बाधा रहित, अनंत, अनुपम निर्वाण को प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—पिछली गाथा में आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव ने प्रतिज्ञा की थी कि मैं उस परमात्म पद अर्थात् आत्मतत्त्व को कहूंगा जिसको जानकर तथा जिसका निरन्तर अवलोकर कर, योगी—ध्यानस्थमुनि, अव्याबाध—बाधारहित, अनंत—अविनाशी और अनुपम—उपमा रहित, निर्वाण—शुद्ध सुख रूप मोक्ष स्थान को प्राप्त होते हैं।

प्रश्न—परमात्म पद व आत्मतत्त्व में क्या विशेषता है ?

उत्तर—कर्मरूपी कालिमा को नष्ट करके जो अपने स्वरूप की प्राप्ति की जाती है वही परमात्मपद है और वही परमात्मपद वास्तविक आत्म तत्त्व है इसलिए शुद्ध आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है।

प्रश्न—आत्म तत्त्व और परमात्मपद में यदि कोई भेद नहीं है तो संसारी आत्मा एवं मुक्त आत्मा में कोई अन्तर नहीं होगा ?

उत्तर—आपका कहना सत्य है। निश्चयनय से संसारी आत्मा और मुक्त आत्मा में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि "सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" शुद्ध नय से सभी जीव शुद्ध माने जाते हैं लेकिन व्यवहारनय से संसारी आत्मा और मुक्त आत्मा में बहुत बड़ा अन्तर है क्योंकि मुक्त आत्मा में तो जन्म, जरा, रोग, शोक, भय, दुःख आदि नहीं पाये जाते हैं और संसारी आत्मा में ये सभी पाये जाते हैं। दूसरी बात यह है कि जन्म, जरा, रोग, शोक, दुःख आदि का पाया जाना ही तो संसार है और इनसे छूटना मुक्त अवस्था है इसलिए शक्ति की अपेक्षा दोनों में कोई भेद नहीं है लेकिन व्यक्त की अपेक्षा दोनों में भेद है।

प्रश्न—गाथा में लिखा है कि आत्मतत्त्व को जानकर ध्यानस्थ मुनि निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। पुनः चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि आत्मा आत्मतत्त्व को जान लेता है तो क्या उसे निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है ?

उत्तर—चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि जीव को इस गुणस्थान में तो मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी लेकिन परंपरा से चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीव का आत्मतत्त्व को जानना मोक्ष का कारण अवश्य है। इसी गाथा में कहा है कि आत्मतत्त्व को जानकर एवं उसका निरन्तर साक्षात् कर योगी—ध्यानस्थ मुनि निर्वाण को प्राप्त करता है। इससे यह एकदम स्पष्ट है कि केवल जानने मात्र से निर्वाण की प्राप्ति नहीं होगी बल्कि दिगम्बर मुनि अवस्था को प्राप्त कर उसमें आत्मतत्त्व का साक्षात् अनुभवन करने से निर्वाण की प्राप्ति होती है।

सिद्धान्त के अनुसार निर्वाण की प्राप्ति शुक्लध्यान एवं क्षपक श्रेणी कर्मभूमिया मनुष्य को दिगम्बर अवस्था ग्रहण करने के पश्चात् ही हो सकती है। उसके पूर्व वस्त्र सहित चतुर्थ या पंचम गुणस्थान में यह अवस्था नहीं प्राप्त हो सकती है और जब शुक्लध्यान व क्षपक श्रेणी अवस्था सवस्त्र चतुर्थ व पंचम गुणस्थान में होती ही नहीं तो निर्वाण भी कैसे हो सकता है इसलिए स्पष्ट रूप से यह मानना चाहिए कि कर्मभूमिया मनुष्य जब दिगम्बर मुनि अवस्था धारण करता है उसके पश्चात् ध्यान अवस्था—निर्विकल्प अवस्था में स्थित होकर जब वह शुक्लध्यान में आरोहण कर लेता है तब ही साक्षात् निर्वाण प्राप्त कर सकता है। उसके पूर्व चारों गतियों में आत्मतत्त्व के जानने वाले चतुर्थ एवं पंचम गुणस्थानवर्ती स्त्री-पुरुष, नारकी-देव एवं तिर्यंच असंख्य पाये जाते हैं इन्हें परम्परा से जब धारण करेंगे, तभी इस प्रकार साक्षात् निर्वाण को प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त हो सकेगी।

प्रश्न—आपके उपर्युक्त कथन से यह बात तो समझ में आ गई कि दिगम्बर मुनि हुए बिना निर्वाण की प्राप्ति सम्भव नहीं है। पुनः आजकल इस शताब्दी में ज्यादा नहीं तो कम से कम ७००-८०० से अधिक मुनि तो विद्यमान हैं तो क्या इसी भव से सभी को निर्वाण प्राप्त हो जायेगा ?

उत्तर—निर्वाण की प्राप्ति में दिगम्बर अवस्था का धारण करना यह एक कारण है। इसी एक कारण से निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती है। निर्वाण की प्राप्ति में और भी अनेक कारण हैं। सभी कारणों के मिलने पर ही निर्वाण की प्राप्ति संभव है। उन कारणों में से जैसे उत्तम संहनन का प्राप्त होना, क्षायिक सम्यक्त्व का प्राप्त होना, क्षपक श्रेणी पर आरोहण करना, आदि अनेक कारण हैं और सभी कारण आवश्यक हैं। आजकल पंचमकाल में उत्तम संहनन का अभाव है। उत्तम संहनन का अभाव होने से क्षपक श्रेणी व शुक्लध्यान का भी अभाव है। इसके अलावा क्षायिक सम्यक्त्व केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में ही होता है जबकि इस दुःषमकाल में केवली या श्रुतकेवली नहीं पाये जाते हैं अतः क्षायिक सम्यक्त्व का भी अभाव है। इन सभी कारणों के अभाव में इस पंचमकाल के मुनियों को साक्षात् निर्वाण की प्राप्ति नहीं होगी। हाँ, जो मुनिराज अपने अट्ठाईस मूलगुणों का पालन कर रहे हैं, सम्यक्त्व तथा चारित्र में दोष नहीं लगाते हैं,

आगम के अनुसार मूलाचार-आचारसार आदि ग्रंथों में कथित मुनिचर्या का पूर्णरूपेण पालन कर रहे हैं, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि सभी कुछ कर रहे हैं, ऐसे भावलिंगी मुनिराज असंख्यात गुणित कर्मों की निर्जरा करते हुए इस भव में उत्तम समाधिमरणपूर्वक अपने शरीर का त्याग करते हैं और अगली कुछ ही पर्यायों में उत्तम संहनन, कर्मभूमि, दिगम्बर अवस्था आदि प्राप्त कर पुनः निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार इस भव में साक्षात् निर्वाण प्राप्त करने की योग्यता का अभाव है।

प्रश्न—यह कैसे जाना जाता है कि आजकल उत्तम संहनन का अभाव है ?

उत्तर—यह आगम के आधार से जाना जाता है।

प्रश्न—आपने ऊपर यह सिद्ध किया है कि आजकल पंचमकाल के मुनिराजों को भी निर्वाण की प्राप्ति इस भव में संभव नहीं है, फिर मुनि बनने से क्या लाभ है ? स्वर्ग तो चतुर्थ-पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक भी जा सकते हैं ?

उत्तर—आपका कहना सत्य है। चतुर्थ-पंचमगुणस्थानवर्ती गृहस्थ या श्रावक यदि श्रावकाचार में कथित अपने आचार का सही पालन करता है तो उसे स्वर्ग सुख प्राप्त होगा और मुनि भी अपने आचार का सही पालन करता है तो उसे भी स्वर्ग सुख प्राप्त होगा, लेकिन दोनों में अंतर है। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव जितने कर्मों की निर्जरा एक समय में करता है उससे असंख्यात गुणी कर्मों की निर्जरा पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक करता है और उससे भी असंख्यात गुणी कर्मों की निर्जरा दिगम्बर मुनिराज छठे व सातवें गुणस्थान में करते हैं इसलिए अनन्त भवों के संचित कर्म छठे-सातवें गुणस्थान में निर्जीर्ण हो जाते हैं। जिससे शीघ्र ही निर्वाण की प्राप्ति सम्भव हो जाती है इसलिए दिगम्बर मुनि अवस्था इस काल में भी निरर्थक नहीं है।

तिपयारो सो अप्पा परमंतर बाहिरो हु देहीणं।
तत्थ परो झाइज्जइ अंतोवाएण चयवि बहिरप्पा।।४।।
अक्खाणि बाहिरप्पा अंतरअप्पा हु अप्पसंकप्पो।
कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए देवो।।५।।

गाथार्थ—वह आत्मा परमात्मा, अन्तरात्मा, बहिरात्मा के भेद से तीन प्रकार का है। इनमें से बहिरात्मा को छोड़कर अन्तरात्मा के उपाय से परमात्मा का ध्यान किया जाता है। हे आत्मन् ! तुम बहिरात्मा का त्याग करो। इन्द्रियाँ बहिरात्मा हैं, आत्मा का संकल्प अन्तरात्मा है और कर्म रूपी कलंक से रहित आत्मा परमात्मा कहलाता है। परमात्मा को ही देव कहा जाता है।

शंका—उपरोक्त गाथा में परम पूज्य आचार्यश्री कुन्दकुन्द स्वामी ने आत्मा के तीन भेद बताए हैं। एक ही अखण्ड आत्मा के तीन भेद कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—आपकी शंका का समाधान इस प्रकार है। आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव ने जो एक ही आत्मा के तीन भेद माने हैं, ये भेद कर्म से सहित एवं रहित की अपेक्षा से माने गये हैं। यह आत्मा जिस काल में जिस प्रकार से परिणमित होती है, उस काल में उस रूप कही जाती है। यही तो स्याद्वाद है फिर यह कथन व्यवहारनय का कथन है।

शंका—आपने बताया कि आत्मा के ये तीन भेद व्यवहारनय से कहे गये हैं तो यह नय क्या वस्तु है?

समाधान—पदार्थ के कथन की शैली को नय कहा जाता है। आगम में नयों के अनेक भेद बतलाए गये हैं। तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथ में उमास्वामी आचार्य ने नय के सात भेद माने हैं, आलाप पद्धति आदि ग्रंथ में नय के अनेक भेद माने हैं। इन सभी के समन्वय रूप यहाँ अध्यात्म ग्रंथ में नय के दो भेद किये हैं—एक निश्चयनय और दूसरा व्यवहारनय। प्रकारान्तर से नय के दो भेद द्रव्यार्थिक नय व पर्यायार्थिक नय भी हैं।

शंका—व्यवहारनय और निश्चयनय का लक्षण क्या है ?

समाधान—मिश्रित अवस्था का कथन करना व्यवहारनय है या भेद का कथन करना व्यवहारनय है। शुद्ध अवस्था का कथन करना निश्चयनय है अथवा अभेद का कथन करना निश्चयनय है। दोनों नयों के कथन से ही वस्तुस्वरूप का सही परिज्ञान हो सकता है।

शंका—आपके उपरोक्त कथन से यह तो समझ में आ गया कि कथन की पद्धति का नाम नय है तथा इन नयों से वस्तुस्वरूप का परिज्ञान किया जाता है। अब आप हमें यह बताने की कृपा करें कि इन नयों के बिना यदि वस्तुस्वरूप को कहा जाये तो क्या दोष है ?

समाधान—आपने यह प्रश्न बहुत ही अच्छा किया है। जैनधर्म में स्याद्वाद या अनेकांत सिद्धान्त को अपनाया गया है। इसके स्वीकार किये बिना वस्तुस्वरूप का सही कथन नहीं किया जा सकता, क्योंकि एक ही पदार्थ के या एक ही वस्तु के विभिन्न रूप देखे जाते हैं। यदि स्याद्वाद शैली से नयों के द्वारा इनका कथन न किया जावे तो वस्तु का स्वरूप समझ में नहीं आ सकता है। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति जिसका नाम मोहनलाल है यह मोहनलाल किसी का पिता है तो किसी का पुत्र भी है। किसी का भांजा है तो किसी का मामा भी है। किसी का चाचा है तो किसी का भतीजा भी है। यह बस अपेक्षाकृत कथन है और सभी कथन अपनी-अपनी अपेक्षा से सही हैं। इसी का नाम स्याद्वाद सिद्धान्त है। यहाँ यह भी समझने योग्य है कि जिस अपेक्षा से जो कथन है उस अपेक्षा से वही है। जिसका पुत्र है उसका पुत्र ही है, पिता नहीं हो सकता। इसी प्रकार यह आत्मा बहिरात्मा भी है, अन्तरात्मा भी है और परमात्मा भी है। यही स्याद्वाद है, इसलिए तीनों अपनी-अपनी अपेक्षा से सत्य हैं।

शंका—अच्छा एक बात और बता दीजिये-हमने किसी के मुँह से ऐसा सुना था कि व्यवहारनय का कथन झूठा है और निश्चयनय का कथन सच्चा है तो क्या ये नय

सच्चे और झूठे हैं ?

समाधान—आपका यह कथन ठीक नहीं है। जैनधर्म के सिद्धान्त में किसी भी नय को झूठा या सच्चा नहीं कहा गया है, बल्कि नय के बगैर जो कथन किया जाता है वह झूठा हो सकता है, अप्रमाणिक हो सकता है। कहा भी है–

''निरपेक्षा नयामिथ्या सापेक्षावस्तुतेऽर्थकृत।''

जो कथन परस्पर नय से सापेक्ष होता है, वही कथन सही माना जाता है और जिस कथन से एकांत रूप से एक ही नय को पकड़ लिया जाता है वह कथन मिथ्या माना जाता है।

शंका—आपके द्वारा बतलाई गई नय पद्धति समझ में आ गई है। अब आप हमें गाथा में कथित परमात्मा, अन्तरात्मा और बहिरात्मा इन तीनों में क्या-क्या अंतर है कृपया इसे समझाने का कष्ट करें ?

समाधान—उपरोक्त मोक्षपाहुड़ की गाथा नं. ५ में आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव ने इन तीनों का संक्षिप्त लक्षण इस प्रकार किया है—इन्द्रियाँ बहिरात्मा हैं, आत्मा का संकल्प अन्तरात्मा है और कर्म रूपी कलंक से रहित आत्मा परमात्मा है।

इन्द्रियाँ बहिरात्मा हैं इसका अभिप्राय यह है कि इन्द्रियों में आसक्त जीव बहिरात्मा हैं अर्थात् पंचेन्द्रिय के विषय व्यपार को ही जो अपना सब कुछ मानता है या उसी को आत्मा का व्यापार कार्य समझता है वह बहिरात्मा है। जिसे आत्मा और शरीर का भेद विज्ञान नहीं हुआ है वह बहिरात्मा कहा जाता है। पं. दौलतरामजी ने छहढाला में कहा है—

मैं सुखी दुःखी मैं रंक राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव।
मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, बेरूप सुभग मूरख प्रवीन।।
तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान।
रागादि प्रगट जे दुःख दैन, तिन ही को सेवत गिनत चैन।।

मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं राजा हूँ, मैं भिखारी हूँ, यह शरीर ही मैं हूँ, पर पदार्थ मेरे हैं इत्यादि प्रकार की मान्यता वाला आत्मा ही बहिरात्मा है।

इसके विपरीत आत्मा का दूसरा भेद है अन्तरात्मा। इसका लक्षण आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने किया है–आत्मा का संकल्प अन्तरात्मा है। सम्यग्दृष्टि जीव की आत्मा का स्वरूप क्या है तथा शरीर का स्वरूप क्या है, इसका परिज्ञान हो जाता है। आत्मा और शरीर तथा आत्मा और पर पदार्थों में भेद को भली प्रकार से समझने वाला ही अन्तरात्मा कहलाता है।

अन्तरात्मा जीव सुख-दुःख में हर्ष-विषाद न करके उसे कर्मजन्य फल मानता है, वह समझता है कि जिस प्रकार के कर्म पूर्व पर्याय में हमने किये उसी का फल प्राप्त हो रहा है तथा हमारी आत्मा शुद्धनय से शुद्ध, बुद्ध परमात्मा, भगवान् स्वरूप है। उसी की प्राप्ति का

संकल्प रखता है, उसी के पुरुषार्थ में संलग्न रहता है, यही अन्तरात्मा का लक्षण है।

इन उपरोक्त कर्म सहित बहिरात्मा और अन्तरात्मा से पृथक् एक तीसरी आत्मा है परमात्मा। यह कर्मरहित अवस्था का नाम है।

इस परमात्मा का लक्षण उपरोक्त गाथा में किया है—कर्मरूपी कलंक से रहित आत्मा परमात्मा है।

इसे इस प्रकार समझना चाहिए कि यह संसारी आत्मा अनादिकाल से कर्मरूपी कालिमा से मलिन हो रही है और जब इस आत्मा से कर्मरूपी कालिमा पूर्ण रूप से निकल जाती है, पृथक् हो जाती है तो यह परमात्मा कहलाती है।

मलरहिओ कलचत्तो अणिंदिओ केवलो विसुद्धप्पा।
परमेट्ठी परमजिणो सिवकरो सासओ सिद्धो।।६।।

गाथार्थ—वह परमात्मा मल रहित है, कल अर्थात् शरीर से रहित है, अतीन्द्रिय है, केवल है, विशुद्धात्मा है, परमेष्ठी है, परमजिन है, शिवंकर है, शाश्वत है और सिद्ध है।

विशेषार्थ—आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने मोक्षप्राभृत की गाथा नं. ४–५ में तीन प्रकार की आत्मा का वर्णन किया है—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। इस गाथा में आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव ने तीसरी प्रकार की आत्मा जो कि सर्वोत्कृष्ट है उसका वर्णन किया है यहाँ पर परमात्मा के १० विशेषण बताए गये हैं।

शंका—गाथा में परमात्मा का पहला विशेषण मल रहित किया है तो इस मल का क्या अभिप्राय है ?

समाधान—आपका प्रश्न ठीक है क्योंकि मल तो अनेक प्रकार का होता है लेकिन यहाँ मल का अभिप्राय कर्ममल से है। द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म ये ३ प्रकार के कर्म माने गये हैं जिनको आचार्यों ने मल संज्ञा दी है। जिस प्रकार से वस्त्रों में मल अर्थात् मैल लगने से वस्त्र गन्दे हो जाते हैं तथा साबुन आदि से साफ करने पर वस्त्र की गन्दगी छूट जाती है उसी प्रकार से संसारी आत्मा का कर्मरूपी मल अनादिकाल से लगा हुआ है, जिसे भेदज्ञान के द्वारा जानकर आत्मा पर लगे हुये कर्मरूपी मल को पुरुषार्थपूर्वक नष्ट करना पड़ता है और जब कर्मरूपी मल आत्मा से हट जाता है, तो आत्मा निर्मल बन जाती है। उसी का नाम मल रहित है, परमात्मा है।

शंका—परमात्मा मल रहित है यह बात तो समझ में आ गई। अब आप हमें यह बताएं कि परमात्मा कल अर्थात् शरीर रहित कैसे है, क्या बिना शरीर के भी कोई रह सकता है ?

समाधान—आपका यह प्रश्न भी समयोजित है। यहाँ यों समझिए कि आत्मा दो प्रकार की मानी जाती हैं एक तो संसारी आत्मा और दूसरी मुक्तात्मा। इसमें संसारी आत्मा तो शरीर सहित ही है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यंत, सभी जीवों में तथा

चारों गतियों में भ्रमण करने वाली आत्मा शरीर सहित ही रहती है। "शरीर" नामकर्म की एक प्रकृति है। पुनः जब कर्म नष्ट हो जाते हैं तब शरीर भी नष्ट हो जाता है और यह आत्मा अशरीरी, परमात्मा हो जाता है। यह आत्मा की स्वतंत्र, शुद्ध अवस्था है। शरीर धारण करना यह तो परतंत्रता एवं अशुद्ध अवस्था है।

दूसरी बात यह है कि परमात्मा के २ भेद भी किये हैं—सकल परमात्मा और निकल परमात्मा। अरहंत परमेष्ठी को सकल परमात्मा कहा जाता है और सिद्ध परमेष्ठी को निकल परमात्मा कहा जाता है अर्थात् तेरहवें गुणस्थान में शरीर तो है फिर भी वह परमौदारिक शरीर होता है एवं सिद्ध अवस्था में शरीर का अभाव हो जाता है।

शंका—परमात्मा का तीसरा विशेषण गाथा में किया है अनिन्द्रियः, इसका क्या अभिप्राय है ?

समाधान—अनिन्द्रियः का अर्थ है अतीन्द्रिय अर्थात् जो इन्द्रियगम्य नहीं है अथवा जिनके इन्द्रिय नहीं है। परमात्म अवस्था में इन्द्रियों का अभाव हो जाता है। परमात्मा के द्वारा देखना, जानना इन्द्रियों से न होकर आत्मा से साक्षात् रूप में होता है क्योंकि इन्द्रियों से जानना, देखना यह तो परावलंबन है, वहाँ स्वावलंबन होने से इन्द्रियातीत अवस्था हो जाती है। दूसरी बात यह है कि कोई संसारी जीव इन्द्रिय सहित आत्मा उन्हें इन्द्रियों से देख नहीं सकता, क्योंकि परमात्मा तो अशरीरी है। परमात्मा को आत्मा के द्वारा ही देखा, जाना, अनुभव किया जाना बन सकता है इसलिए परमात्मा अतीन्द्रिय है ऐसा इस गाथा में कहा जाना उपयुक्त ही है।

शंका—परमात्मा केवल है इसका क्या अर्थ अभिप्रेत है ?

समाधान—केवल का अभिप्राय केवलज्ञानी से है अथवा असहाय से है। जो आत्मा क्षायोपशमिक ज्ञान से रहित होकर केवलज्ञानी बन जाता है अथवा जिनका ज्ञान पर की सहायता से इन्द्रियों की सहायता वाला न होने से असहाय कहा जाता है उसे केवल संज्ञा है। गाथा की टीका में भी कहा है जो निज-आत्मस्वरूप में लीन है वह केवल है।

शंका—गाथा में परमात्मा का विशेषण किया है "विशुद्धात्मा"। तो क्या आत्मा अशुद्ध भी रहती है ?

समाधान—"विशेषेण शुद्धः कर्ममलकलंकरहितः आत्मा स्वभावो यस्य स विशुद्धात्मा" अर्थात् जो विशेष रूप से शुद्ध हो चुकी है जिसका स्वभाव कर्ममल कलंक से रहित हो चुका है उस आत्मा को विशुद्धात्मा कहते हैं।

परमात्मा को विशुद्धात्मा कहने से अर्थापत्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि संसारी आत्मा अशुद्ध हो रही है उसका कारण कर्म से सहितपना ही है। जब तक इस आत्मा के साथ कर्मरूपी कालिमा लगी हुई है तब तक उसे शुद्धात्मा-परमात्मा नहीं कह सकते।

संसार अवस्था में सभी आत्माएँ निश्चयनय से शुद्ध कही गई हैं लेकिन व्यवहारनय से सभी आत्माएं कर्म से सहित होने के कारण अशुद्ध ही हैं। इतना अवश्य है कि जितनी-जितनी अशुद्धता नष्ट होती जाती है उतनी-उतनी यह आत्मा ऊपर चढ़ती चली जाती है और क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होने के बाद शीघ्र ही पूर्ण शुद्ध हो जाती है, इसी पूर्ण शुद्ध आत्मा का नाम परमात्मा है।

शंका—परमात्मा का अगला विशेषण गाथा में परमेष्ठी कहा है। परमेष्ठी तो पांच कहे गये हैं जैसा कि णमोकार मंत्र में हम पढ़ते हैं फिर यहाँ परमात्मा को ही परमेष्ठी क्यों कहा है ?

समाधान—आपकी शंका का समाधान इस प्रकार है-णमोकार मंत्र में पांच प्रकार के परमेष्ठियों का स्मरण किया गया है, उसमें अरिहंत और सिद्ध परमेष्ठी तो परमात्मा हैं। शेष ३ परमेष्ठी आचार्य, उपाध्याय और साधु परमात्मा तो नहीं हैं लेकिन परमात्म अवस्था को प्राप्त करने के लिए उद्यमशील हैं तथा जिनलिंग को धारण करने वाले हैं इसलिए इनको भी परमेष्ठी में गर्भित कर लिया गया है अतः अरहंत-सिद्ध इन दो परमात्मा को परमेष्ठी कहने में कोई दोष नहीं है।

शंका—परमजिन का क्या अभिप्राय है ?

समाधान—"कर्मारातीन् जयति समूलं काषं कषति इति जिनः परमश्चासौ जिनः परमजिनः तीर्थंकर परमदेवः।"

जो कर्मरूपी शत्रुओं को जीतता है, समूल नष्ट कर देता है वह जिन कहलाता है और उन जिनों में जो श्रेष्ठ हैं, उत्कृष्ट हैं, वह परमजिन हैं अर्थात् तीर्थंकर भगवान परमजिन कहलाते हैं।

शंका—परमात्मा को शिवंकर कैसे कहते हैं ?

समाधान—"शिवं मोक्षं करोति भक्त भव्यजीवानां मोक्षं विदधाति इति शिवंकरः।" परमात्मा भव्य जीवों को मोक्ष प्रदान कराने वाला है इसलिए उन्हें शिवंकर भी कहा गया है। यहाँ पर कोई शंका कर सकता है कि जैन दर्शन के अनुसार परमात्मा तो राग, द्वेष, कषाय आदि से रहित होने के कारण पूर्ण वीतरागी हैं पुनः वे किसी को मोक्ष किस प्रकार प्रदान कर सकते हैं। इसका समाधान यह है कि वास्तव में परमात्मा तो मोक्ष नहीं प्रदान करते हैं परन्तु परमात्मा की भक्ति करने से, उनके ही समान बनने की भावना करने से यह जीव एक दिन स्वयं अपनी आत्मा को परमात्मा बना लेता है अतः संसारी भव्य जीवों के लिए परमात्मा मोक्ष प्राप्ति में कथंचित् निमित्त कारण बन जाते हैं इसलिए उन्हें शिवंकर संज्ञा सार्थक है।

शाश्वत—शाश्वत का अभिप्राय है कि परमात्मा अविनश्वर है, हमेशा एक सी अवस्था में रहने वाला है। यहाँ यह विशेषण इसलिए दिया गया है क्योंकि संसारी आत्मा

शाश्वत नहीं है, उनकी पर्यायें कर्मानुसार बदलती रहती हैं लेकिन कर्ममल से रहित होने के कारण परमात्म अवस्था में षट् गुण हानि वृद्धि रूप स्वभाव पर्यायें तो बदलती रहती हैं फिर भी वहाँ कर्म की कालिमा मात्र भी शेष नहीं है इसलिए विभाव पर्याय न होने से संसारी पर्यायों का परिवर्तन वहाँ नहीं पाया जाता है इसीलिए उन्हें शाश्वत कहा गया है। वहाँ परमात्मा की द्रव्य गुण पर्यायें हमेशा एक सदृश ही रहती हैं।

१२वीं गाथा में योगी के बारे में कहा है—

जो देहे णिरवेक्खो णिद्दंदो णिम्ममो णिरारंभो।
आदसहावे सुरओ जोई सो लहइ णिव्वाणं।।१२।।

गाथार्थ– जो शरीर में निरक्षेप है, द्वन्द्व रहित है, ममता रहित है , आरम्भ रहित है और आत्मस्वभाव में संलग्न है। वह योगी निर्वाण को प्राप्त होता है ।

विशेषार्थ– इस गाथा में आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव ने निर्वाण को प्राप्त होने वाले योगी अर्थात् दिगम्बर मुनि की चर्या का वर्णन किया है क्योंकि केवल दिगम्बर दीक्षा लेने से ही निर्वाण की प्राप्ति हो जाये ऐसा एकांत नहीं है। आगम कथित आचार का पालन करने से ही निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है यहां यह बात और ध्यान रखने योग्य है कि बिना दिगम्बर दीक्षा के भी निर्वाण की प्राप्ति नहीं होगी क्योंकि दिगम्बर दीक्षा तो निर्वाण के लिए प्राथमिक आवश्यक अवस्था है , उसके बाद ही निर्वाण का मार्ग प्रशस्त होता है। यहां पर निर्वाण प्राप्ति के लिए योगी के कुछ विशेषण–कर्तव्य बताये हैं–

शरीर में निरपेक्ष– जो योगी शरीर में निरपेक्ष अर्थात् उदासीन हैं इनका अभिप्राय यह है कि शरीर और आत्मा ये दोनों भिन्न-२ वस्तु हैं, दोनों के लक्षण अलग-अलग हैं। शरीर पुद्गल है और आत्मा जीव है , चेतन है इसलिए पिछली गाथाओं में बताया था कि शरीर को ही आत्मा मान लेना बहिरात्मा का स्वभाव है। शरीर का पोषण करना, शरीर का शृंगार करना, शरीर के क्षीण होने पर दुःख, शोक मनाना यह सब बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि का कार्य है। सम्यग्दृष्टि जीव शरीर को पर मानता है और उसका उतना ही संरक्षण करता है जिससे आत्मसिद्धि की प्राप्ति में बाधा न उत्पन्न हो। यही स्थिति निर्वाण प्राप्ति करने वाले मुनिराज की होती है, वे शरीर को छोड़कर अन्यत्र तो प्राण धारण नहीं कर सकते इसलिये शरीर से यथाशक्ति तप करके उससे आत्मसिद्धि की कामना करते हैं, तभी तो अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग आदि तपों के द्वारा शरीर को कष्ट देते हैं और आत्मा की पुष्टि करते हैं।

निर्द्वन्द्व—निर्द्वन्द्व का अभिप्राय है—कलह रहित होना अथवा कोश में द्वन्द्व का अर्थ स्त्री-पुरुष के युगल से भी लिया गया है । ये दोनों दोष योगी में नहीं होते हैं अर्थात् योगी कलह नहीं करता है और यदि करेगा तो आर्तध्यान होगा।

धर्मध्यान में ही बाधा पड़ेगी– शुक्लध्यान का तो प्रश्न ही नहीं उठता इसीलिए कलह रहित योगी के निर्वाण की प्राप्ति सम्भव है ऐसा बताया है। इसका लक्षण भी उपयुक्त है। योगी अकेला होता है , स्त्री सहित नहीं होता है क्योंकि योगी अखंड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाला होता है, ब्रह्मचर्य तो मुनिराज का प्राथमिक मूलगुण है। यदि स्त्री रखेगा तो गृहस्थ हो जायेगा और गृहस्थी को कभी निर्वाण की प्राप्ति उस पर्याय से हो नहीं सकती इसलिए योगी स्त्री भोग से रहित होने पर ही निर्वाण प्राप्त कर सकता है ऐसा यहां अभिप्राय समझना चाहिए।

निर्मम—निर्मम का अर्थ है ममता रहित—मोहरहित । मम अर्थात् "यह मेरा है" यह भाव ममत्व परिणाम वाला है, इसी का अभाव होना निर्मम होना है।

आत्मानुशासन में इस संबंध में एक श्लोक बहुत सुन्दर आया है—

अकिंचनोऽहमित्यास्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः।।

" हे आत्मन् ! मैं अकिंचन हूँ—मेरे पास कुछ भी नहीं है, यह विचार कर तुम चुपचाप बैठो क्योंकि ऐसा करने से तुम तीन लोक के अधिपति बन जावोगे। यह परमात्मा बनने का रहस्य मैंने तुम्हारे लिए बतलाया है।"

आचार्यश्री व्रत की महिमा को बताते हुए इस गाथा में कहते हैं—

वर वयतवेहि सग्गो मा दुक्खं होउ णिरइ इयरेहिं।
छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं।।२५।।

गाथार्थ–व्रत और तप के द्वारा स्वर्ग का प्राप्त होना अच्छा है परन्तु अव्रत और अतप के द्वारा नरक के दुःख प्राप्त होना अच्छा नहीं है । छाया और धूप में बैठकर इष्ट स्थान की प्रतीक्षा करने वालों में महान भेद है।

विशेषार्थ–आचार्य भगवन्त श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने मोक्षप्राभृत ग्रंथ की उपरोक्त गाथा में मुनियों को संबोधित करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार से मार्ग में चलते हुए पथिक को यदि कहीं विश्राम करना पड़े तो उसके लिए धूप में विश्राम करने की अपेक्षा छाया के स्थान पर विश्राम सुखद रहता है, उसी प्रकार जो भव्य आत्मा साक्षात् उस पर्याय से मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है उसे नरक–तिर्यंच आदि दुःखद पर्यायों की अपेक्षा व्रत और तप ग्रहण कर स्वर्ग सुख प्राप्त करना श्रेयस्कर है।

इस गाथा की टीका करते हुए आचार्य श्री श्रुतसागरसूरी ने लिखा है कि व्रत, तप आदि शुभोपयोग की परिणति से जीव को स्वर्ग प्राप्त होता है सो उसका प्राप्त होना भी कुछ अच्छा है क्योंकि सम्यग्दृष्टि का सर्वोत्तम लक्ष्य तो निर्वाण की प्राप्ति है लेकिन उसके अभाव में स्वर्ग प्राप्त होना अच्छा ही है। आचार्य कहते हैं कि व्रत और तप के

अभाव में पाप तथा अतप में प्रवृत्ति करने से इस जीव को नरक के दुःख प्राप्त होते हैं।

इसी बात की पुष्टि महान आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश ग्रंथ में की है।

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्व्रत नारकं।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ।।

उपरोक्त श्लोक में श्री पूज्यपाद आचार्य ने आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव की गाथा का ही अनुसरणा किया है दोनों का एक ही अभिप्राय है।

वर्तमान पंचमकाल में यह गाथा भव्य जीवों के लिए बहुत ही कार्यकारी है। कार्यकारी क्यों है, इसे इस प्रकार समझना चाहिए। जीव के उपयोग तीन माने गये हैं— अशुभोपयोग, शुभोपयोग, शुद्धोपयोग ।

प्रवचनसार में आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव की गाथा की टीका करते हुए आचार्य श्री जयसेन स्वामी ने इसका खुलासा इस प्रकार किया है—प्रथम गुणस्थान से तृतीय गुणस्थान तक अशुभोपयोग होता है, चतुर्थ गुणस्थान से छठे गुणस्थान तक शुद्धोपयोग होता है । इसके बाद तेरहवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग का फल केवलज्ञान की प्राप्ति होना है।

भरतक्षेत्र के इस पंचम काल में शुद्धोपयोग, शुक्लध्यान, श्रेणी का आरोहण , निर्विकल्प ध्यान, क्षायिक सम्यक्त्व एवं केवलज्ञान का अभाव माना गया है , क्योंकि उत्तम संहनन का अभाव है। इसका अभिप्राय यह है कि श्रेणी का आरोहण एवं शुक्लध्यान तो आठवें गुणस्थान से प्रारम्भ होता है। जब उसका आज अभाव है तो केवलज्ञान की प्राप्ति का प्रश्न ही नहीं उठता अतः जिस शुद्धोपयोग के बल से शुक्लध्यान द्वारा केवलज्ञान की प्राप्ति होती है वह आज नहीं हो सकता । ऐसी स्थिति में शुद्धोपयोग के अभाव में शुभोपयोग और अशुभोपयोग ये दो ही उपयोग वर्तमान में जीव में हो सकेंगे । इन दोनों में विचार करके देखा जाए तो अशुभोपयोग की अपेक्षा शुभोपयोग ही ग्रहण करने योग्य है क्योंकि अशुभोपयोग से अशुभ अर्थात् पाप का बंध होता है जिससे नरक, तिर्यंच आदि गतियों की प्राप्ति होती है और शुभोपयोग से शुभ अर्थात् पुण्य का बंध होता है इससे स्वर्ग व मनुष्य गति की प्राप्ति होती है।

इससे यह तात्पर्य निकालना चाहिए कि शुभोपयोग सर्वथा हेय नहीं है। शुद्धोपयोग की अपेक्षा तो हेय है लेकिन अशुभोपयोग की अपेक्षा हेय न होकर उपादेय ही है। हाँ, जिस भूमिका में शुद्धोपयोग की प्राप्ति सम्भव है वहाँ अशुभोपयोग व शुभोपयोग दोनों हेय मानना चाहिए। फिर भी एक बात यहाँ ध्यान देने योग्य है कि शुद्धोपयोग की भूमिका में जब शुभोपयोग व अशुभोपयोग दोनों हेय माने जाते हैं उस समय भी दोनों में कुछ अन्तर है। जैसे अशुभोपयोग तो बुद्धिपूर्वक छोड़ा जाता है और शुभोपयोग अपने आप छूट जाता है, छोड़ा नहीं जाता है बल्कि शुभोपयोग के आश्रय से शुद्धोपयोग की

प्राप्ति की जाती है । शुद्धोपयोग की स्थिति में पहुंचने पर मुनिराजों के शुभोपयोग स्वयं छूट जाता है। जैसे सीढ़ी के द्वारा कोई व्यक्ति ऊपर छत पर चढ़ता है तो सीढ़ी तो उसके चढ़ने में सहायक है लेकिन छत पर चढ़ने के बाद सीढ़ी स्वयं छूट जाती है, उसकी आवश्यकता नहीं रह जाती है। यहाँ तक तो बात है मुनिराजों की।

अब गृहस्थों के लिए ऐसा समझना। गृहस्थों में प्रथम से लेकर पंचम गुणस्थान तक हो सकते हैं, जहां तक शरीर पर वस्त्र पड़ा हुआ है वहां तक पंचम गुणस्थान तक ही माना गया है। दिगम्बर मुनि के ही छठा-सातवां गुणस्थान होता है इसलिए गृहस्थों में तो शुद्धोपयोग, निर्विकल्प समाधि, शुक्लध्यान आदि का सर्वथा अभाव ही है । चाहे चतुर्थकाल हो, चाहे पंचमकाल, गृहस्थ सम्यग्दृष्टि होंगे तो चतुर्थ गुणस्थान में होंगे, यदि व्रत ग्रहण करेंगे तो संयमासंयम नामक पंचमगुणस्थान होगा। छठा-सातवां तीन काल में भी संभव नहीं है अतः गृहस्थों को अशुभोपयोग छोड़कर शुभोपयोग ही उपादेय है। चाहे भरतक्षेत्र के गृहस्थ हों, चाहे ऐरावत क्षेत्र के हों और चाहे विदेह क्षेत्र के हों। गृहस्थों में शुभोपयोग ही रह सकता है, अगर शुभोपयोग छोड़ना चाहेंगे तो नियम से अशुभोपयोग आएगा जिससे नरक आदि निम्न योनियों में जाना पड़ेगा इसलिए प्रसन्नतापूर्वक पुण्य प्राप्ति की इच्छा करते हुए शुभोपयोग सम्बंधी कर्तव्यों का पालन गृहस्थ को करके परम्परा से मोक्ष प्राप्ति की भावना करना चाहिए। गृहस्थ को यदि शुद्धोपयोग होता तो साक्षात् केवलज्ञान की प्राप्ति भी हो जाती। शुद्धोपयोग होता नहीं इसलिए केवलज्ञान व निर्वाण भी वस्त्रधारी को होता नहीं ।

अतः आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव के कथनानुसार यथाशक्ति व्रत एवं तप के द्वारा स्वर्ग सुख को प्राप्त करने का पुरुषार्थ इस काल में करना चाहिए। अव्रत एवं अतप से मरकर नरक आदि के दुःख उठाना अच्छा नहीं है।

मुनि के द्वारा आत्मध्यान का सुन्दर वर्णन इस गाथा में आचार्यश्री ने किया है—

सव्वे कसाय मोत्तुं गारवमयरायदोसवामोहं।
लोयववहारविरदो अप्पा झाएह झाणत्थो।।२७।।

गाथार्थ—समस्त मुनि समस्त कषायों और गारव, मद, राग-द्वेष तथा व्यामोह को छोड़कर लोकव्यवहार से विरत होता हुआ आत्मा का ध्यान करते हैं।

विशेषार्थ—समस्त कषायों से क्रोध, मान, माया और लोभ का ग्रहण होता है ।

गारव के ३ भेद हैं—१. शब्द गारव, २. ऋद्धि गारव और ३. सात गारव।

मैं वर्णों के उच्चारण सुन्दर जानता हूँ ये अन्य मुनि नहीं जानते– इस प्रकार के गर्व को लिए हुए परिणाम को शब्द गारव कहते हैं। मेरी शिष्यादि सामग्री बहुत है इन मुनियों की नहीं है। इस प्रकार के गर्व रूप परिणाम को ऋद्धि गारव कहते हैं। मैं मुनि होते हुए भी इन्द्र, चक्रवर्ती और तीर्थंकर सरीखे सुख का भोग कर रहा हूँ ये बेचारे

तपस्वी क्या भोगेंगे, इस प्रकार के गर्व रूप परिणाम को सात गारव कहते हैं।

गाथा में ध्यानस्थ मुनि के लिए मदों से विरक्त होने को बताया है। आगम में मद के ८ भेद किये हैं, यहाँ पर गाथा की टीका करते हुये स्वयं आचार्य श्रुतसागर सूरी ने आठ मदों की निम्न प्रकार व्याख्या की है—

१. ज्ञान मद, २. पूजा मद, ३. कुल मद, ४. जाति मद, ५. बल मद, ६. ऋद्धि मद, ७. तप मद, ८. शरीर मद।

१. मैं ज्ञानवान हूँ–सकल शास्त्रों का ज्ञाता हूँ इस प्रकार के अहंकार को ज्ञानमद कहते हैं।

२. महामण्डलेश्वर राजा आदि हमारे चरण सेवक हैं, मेरी पूजा करते हैं– उन सबसे मैं मान्य हूँ, इत्यादि पूजामद है।

३. पितृपक्ष को कुल कहते हैं– मेरा पितृपक्ष अत्यन्त उज्ज्वल है, ब्रह्महत्या, ऋषिहत्या आदि दोषों से कभी दूषित नहीं हुआ है। इस प्रकार के अहंकार को कुलमद कहते हैं।

४. मातृपक्ष को जाति कहते हैं। मेरी माता विशिष्ट मान्य व्यक्ति की लड़की है तथा सीता, सुलोचना, अनंतमती आदि के समान शीलवान है इस आशय का अहंकार करना जाति मद है।

५– मैं सहस्रभट, लक्षभट अथवा कोटीभट हूँ, इस प्रकार के अहंकार को बलमद कहते हैं।

६– मेरे पास लाखों–करोड़ों की सम्पत्ति थी–जिसे मैने छोड़ दिया। अन्य मुनियों के पास तो सम्पत्ति ही नहीं थी इस प्रकार के अहंकार को ऋद्धिमद कहते हैं ।

७– मैं महा तपस्वी हूँ– सिंहनिष्क्रीडित, विमानपंक्ति, सर्वतोभद्र, शातकुम्भ आदि नाना प्रकार के तप हमने किये हैं इस प्रकार के अहंकाररूपी परिणाम को तपमद कहते हैं।

८– मेरा शरीर बहुत सुन्दर है, कामदेव भी मेरे रूप सौन्दर्य के समक्ष दास के समान है, इस प्रकार का अहंकार ही रूपमद या शरीर मद है।

राग का अर्थ प्रीति तथा द्वेष का अर्थ अप्रीति है अर्थात् किसी इष्ट व्यक्ति से या पदार्थ से स्नेह होना राग है, इसी प्रकार किसी अनिष्ट वस्तु या व्यक्ति से द्वेष होना द्वेष कहलाता है। पुत्र–स्त्री–मित्र आदि का स्नेह होना व्यामोह कहलाता है। धर्मोपदेश देना एवं अन्य व्यवहार क्रियाओं को लोकव्यवहार कहते हैं।

सारांश– उपरोक्त गाथा में आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव ने इस बात को स्पष्ट किया गया है कि आत्मा के ध्यान में स्थित मुनि के उपरोक्त दोषों से विरति हो जाती है। अर्थापत्ति से ऐसा समझ सकते हैं कि जब तक उपरोक्त दोषों का अभाव नहीं होगा तब तक आत्मा का ध्यान नहीं हो सकता क्योंकि चित्त की एकाग्रता के बिना ध्यान सम्भव नहीं है।

तत्त्वार्थसूत्र में ध्यान की व्याख्या करते हुए आचार्य श्री उमास्वामी जी ने लिखा है—

उत्तमसंहननस्य एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ।

उत्तम संहनन वाले जीव के एक ही पदार्थ में स्थिरता रूप चित्त का रुकना ध्यान होता है और यह ध्यान अधिकतम अन्तर्मुहूर्त तक हो सकता है ।

इससे यह बात सिद्ध होती है कि एकाग्रता के लिए चित्त की चंचलता का रुकना आवश्यक है। इसके लिए यह तो सामान्य रूप से भी समझा जा सकता है कि जब तक कषायों का उद्रेक रहेगा, मद, राग, द्वेष आदि दोष रहेंगे तब तक निराकुलता रह नहीं सकती, निर्विकल्प स्थिति रह नहीं सकती है तब तक ध्यान होना कथमपि सम्भव नहीं है इसीलिए ध्यानस्थ मुनि के उपरोक्त दोषों का अभाव हो जाता है। इस प्रकार इस गाथा में मुनिराजों को बाह्य विकल्पों से हटकर, कषाय, मद आदि दोषों को हटाकर आत्मा के ध्यान में स्थित होकर मोक्ष प्राप्त करने का पुरुषार्थ बताया गया है।

आगे पुनः योगी के लिए कहा है—

मिच्छत्तं अण्णाणं पावं पुण्णं चएवि तिविहेण।
मोणव्वएण जोई जोयत्थो जोयए अप्पा।।२८।।

गाथार्थ–मिथ्यात्व, अज्ञान, पाप और पुण्य को मन, वचन, काय रूप त्रिविधि योगों से छोड़कर जो योगी मौन व्रत से ध्यानस्थ होता है वही आत्मा को द्योतित करता है–प्रकाशित करता है—आत्मा का साक्षात्कार करता है ।

विशेषार्थ–मोक्षप्राभृत की उपरोक्त गाथा में आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव ने आत्मा को प्रकाशित करने वाले योगी अर्थात् मुनिराज को पाप के समान पुण्य भी छोड़ने के लिए कहा है। वास्तव में मिथ्यात्व और पाप के समान एक अवस्था ऐसी आती है जब पुण्य छोड़ा नहीं जा सकता । आत्मा के साथ प्रतिक्षण जो कर्म परमाणु बंध को प्राप्त होते हैं उनमें पाप और पुण्य इन दो रूप परमाणु होते हैं। इन दो को छोड़कर संसार में कोई तीसरी अवस्था है नहीं, और जब तीसरी अवस्था आ जाती है तो पुण्य पाप दोनों छूटकर शुद्धोपयोग हो जाता है , पुनः शुद्धोपयोग होने के पश्चात् केवलज्ञान होने में देर नहीं लगती है।

षट्खण्डागम, धवला, जयधवला, कर्मकांड, जीवकांड, लब्धिसार आदि ग्रंथों में कर्मप्रकृतियों का विवेचन किया गया है। किस प्रकार से कर्मों का बंध होता है और किस प्रकार से कर्मों से छूटा जाता है इसका विस्तृत वर्णन इन ग्रंथों में उपलब्ध है। सम्पूर्ण कर्म प्रकृतियों को पुण्य प्रकृति एवं पाप प्रकृति ऐसे दो भागों में विभक्त किया गया है। मूल में कर्म के ८ भेद माने हैं और इन आठ कर्मों की १४८ प्रकृतियाँ मानी हैं। ये सम्पूर्ण प्रकृतियां जब नष्ट हो जाती हैं तभी पुण्य और पाप नष्ट होता है और सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है। इसके पूर्व तो कर्मों का बंध बराबर चलता है और कर्मों का बंध जहां तक

चलता है वहाँ तक पुण्य छूटा नहीं है, यह स्पष्ट है।

मुनिराजों की भूमिका प्रमुख रूप से छठे-सातवें गुणस्थान की रहती है। यदि मुनिराज भावलिंगी संत हैं तो नियम से छठे-सातवें गुणस्थान में रह नहीं सकते, इसलिए उन्हें झूले के समान बराबर कभी छठे में, कभी सातवें में जाना पड़ता है। ऐसी स्थिति अन्य गुणस्थानों की नहीं है जिसमें बराबर आना-जाना पड़े लेकिन इन दो गुणस्थानों की स्थिति ऐसी ही है । इस भूमिका वाले सन्त मुख्य रूप से पुण्य संपादित करते हैं और क्रम-क्रम से शुद्धोपयोग की भूमिका पाकर आठवें आदि गुणस्थान में चढ़कर निर्विकल्प शुक्लध्यान रूप भूमिका में पहुंचकर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं तब पुण्य भी छूट जाता है।

क्योंकि वहां कुछ करने का रहा ही नहीं। जब कुछ कार्य ही नहीं करेंगे तो बंध कैसे होगा, हां, यह बात अवश्य है कि मन, वचन से और काय से, तीनों योगों से बाह्य क्रियाओं को रोककर मात्र आत्मा का ध्यान करने से ही ऐसी अवस्था प्राप्त हो सकती है।

गाथा की टीका करते हुए आचार्य श्री श्रुतसागरजी सूरी ने लिखा है–

"बौद्ध , वैशेषिक, चार्वाक, नैयायिक, सांख्य, मीमांसक.... वेदांक, प्राभाकर, श्वेताम्बर, गौपुच्छिक, यापनीय, द्रामिल और निष्पिच्छ आदि अनेक एकांतवादियों के मत मिथ्यात्व कहलाते हैं।

मस्कर-पूरण का मत अज्ञान नाम से प्रसिद्ध है। हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह और रात्रिभोजन तथा सप्त व्यसन आदि पाप कहलाते हैं।

शुद्ध पुद्गलों-पुण्य कर्म वर्गणाओं का ग्रहण कराने वाला कायक्लेश आदि पुण्य कहलाता है।

इन सबको त्रिविध—मन, वचन, काय रूप योगों के प्रकार से छोड़कर मौनव्रत से जो योगी योगस्थ होता है अर्थात् शुद्धोपयोग में तल्लीन होता है वह शरीर प्रमाण आत्मा का ध्यान करता है।"

उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट रूप से समझना चाहिए कि मिथ्यात्व, पाप एवं अज्ञान इन्हें तो बुद्धिपूर्वक छोड़ना ही पड़ेगा। मुनिराज तो क्या, इन्हें तो छोड़े बगैर श्रावक श्रावक ही नहीं बन सकता है क्योंकि ये सारे पाप और मिथ्यात्व तो प्रथम मिथ्यादृष्टि गुणस्थान के कार्य हैं और जब तक मिथ्यात्व रहता है, सम्यक्त्व नहीं होता है तब तक तो श्रावक ही नहीं कहला सकता है। आप सोचिए, जब चौथा और पांचवा गुणस्थान ही नहीं होगा तो छठा-सातवां कैसे होगा इसलिए मिथ्यात्व और उपरोक्त पाप तो छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज के पास आ नहीं सकते और अगर आ गये तो गया मुनिपना । लेकिन भावलिंगी मुनि के पास होगा नहीं । उन्हें तो ऊपर चढ़ना है, नीचे नहीं आना है। नीचे आते-आते, रहते-रहते तो अनंत काल बीत गया।

अब तो उन्हें कुन्दकुन्द स्वामी के बताए रास्ते पर जाना है क्योंकि मोक्षमहल की सीढ़ी पर उनने पैर रख दिया है।

ऐसे सन्त जयवंत हों जिनने पुण्य को छोड़ने की भूमिका प्राप्त कर ली है, मानो उन्हें साक्षात् मोक्ष का टिकट मिल गया लेकिन ऐसे भी संत जयवंत हों जो पाप और मिथ्यात्व को छोड़कर कथंचित् पुण्य में संलग्न हैं क्योंकि उनके सामने और कोई रास्ता नहीं है । अगर उन्होंने सच्चे पुण्य की प्राप्ति कर ली तो एक दिन "पुण्ण फला अरिहंता" पुण्य का फल अरिहंत अवस्था है इस कथन के अनुसार लक्ष्य प्राप्ति में अवश्य सफल हो जाएंगे और जब फल मिल जायेगा तो फूल की क्या जरूरत होगी। यह निश्चित है कि बिना पुण्य छूटे मोक्ष मिलेगा नहीं, फिर भी यदि कोई पुण्य को छोड़ने की कोशिश करेगा तो पाप में चला जाएगा। गृहस्थ तो कभी पुण्य छोड़ने की बात स्वप्न में भी नहीं सोचे बल्कि प्रतिक्षण पाप को छोड़ने की बात सोचे और किस-किस प्रकार से पुण्य हो सकता है उसका उपाय ढूंढे। वर्तमान के मुनिराज भी छठे-सातवें गुणस्थान से ऊपर नहीं जा सकते हैं इसलिए उन्हें भी पुण्य छोड़ने की बात इस पंचम काल में नहीं सोचने की है, समझने की अवश्य है।

वस्तु स्वरूप ऐसा है इसे समझकर यह नहीं समझ लें कि बिना पुण्य छूटे साक्षात् मोक्ष मिल जायेगा।

आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव ने जो वस्तुस्थिति बताई है उसे भली प्रकार समझकर अपने कल्याण का पथ अंगीकार करना यही सम्यग्दृष्टि का कर्तव्य है।

निश्चय और व्यवहारनय से जीवात्मा का कथन

(वृहद् द्रव्यसंग्रह ग्रंथानुसार)

(कतिपय विशेष गाथाओं पर)

पुग्गलकम्मादीणं कत्त ववहारदो दु णिच्छयदो।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं।।८।।

गाथार्थ – आत्मा व्यवहार नय से पुद्गल कर्म आदि का कर्ता है। निश्चयनय से चेतन कर्म का कर्ता है और शुद्धनय की अपेक्षा से शुद्ध भावों का कर्ता है।

विशेषार्थ– आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती ने इस गाथा में व्यवहारनय, निश्चयनय और शुद्धनय ऐसे तीन नयों का विवेचन किया है, जबकि मूल रूप से व्यवहार नय और निश्चयनय इन दो नयों का ही विवेचन अध्यात्म में मिलता है । इसका स्पष्टीकरण टीकाकार श्री ब्रह्मदेव ने गाथा की टीका करते हुए किया है। निश्चयनय के ही दो भेद किए हैं—एक अशुद्ध निश्चय नय और एक शुद्ध निश्चय नय, इसलिए इस गाथा में निश्चयनय के स्थान पर अशुद्ध निश्चयनय मानना है तथा शुद्धनय के स्थान पर शुद्ध

निश्चयनय मानना है।

टीकाकार ने टीका करते हुए लिखा है कि मन, वचन, काय की क्रिया से रहित निज शुद्ध आत्मतत्व की जो भावना है, उस भावना से शून्य होकर अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा से यह आत्मा ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मों का तथा आदि शब्द से औदारिक, वैक्रियिक और आहारक रूप तीन शरीर व आहार आदि ६ पर्याप्तियों के योग्य जो पुद्गल पिंड रूप नोकर्म हैं उनका कर्ता है। इसके अतिरिक्त उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से बाह्य विषय घट-पट आदि का भी यह जीव कर्ता होता है।

निश्चयनय की अपेक्षा से यह आत्मा चेतन कर्मों का कर्ता है, वह इस प्रकार है— राग आदि विकल्प उपाधि से रहित निष्क्रिय परमचैतन्य भावना से रहित होने के कारण जीव ने राग आदि को उत्पन्न करने वाले कर्मों का जो उपार्जन किया है, उन कर्मों का उदय होने पर निष्क्रिय और निर्मल आत्मज्ञान को नहीं प्राप्त होता हुआ यह जीव भावकर्म इस शब्द से वाच्य जो रागादि विकल्प रूप चेतन कर्म है उनका अशुद्ध निश्चयनय से कर्ता होता है। अशुद्ध निश्चय नय का यह अर्थ है—कर्म उपाधि से उत्पन्न होने से अशुद्ध कहलाता है और उस समय अग्नि में तपे हुए लोहे के गोले के समान तन्मय रूप होने से निश्चय कहा जाता है, इस रीति से अशुद्ध और निश्चय इन दोनों को मिलकर अशुद्ध निश्चय नय कहा जाता है।

"सुद्धणया सुद्धभावाणं" जब जीव शुभ-अशुभ मन, वचन, काय इन तीनों योगों के व्यापार से शून्य हो जाता है और शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव से परिणमन करता है तब अनंतज्ञान, अनंतसुख आदि शुद्ध भावों का छद्मस्थ अवस्था में भावना रूप से विवक्षित एकदेश शुद्ध निश्चयनय से कर्ता होता है और मुक्त अवस्था में शुद्ध निश्चय नय से अनंत ज्ञानादि शुद्ध भावों का कर्ता है किन्तु परिणमन करते हुए शुद्ध , अशुद्ध भावों का कर्तृव्य जीव में जानना चाहिए और हस्त आदि के व्यापार रूप परिणमनों का कर्तापन समझना चाहिए क्योंकि नित्य, निरंजन, निष्क्रिय ऐसे अपने आत्मस्वरूप की भावना से रहित जीव के कर्म आदि का कर्तृत्व कहा गया है इसलिए उस निज शुद्ध आत्मा में ही भावना करनी चाहिए। इस तरह सांख्यमत के प्रति "एकांत से जीव कर्ता नहीं है" इस मत का निराकरण इस गाथा द्वारा हो जाता है।

ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मफ्फलं पभुंजेदि।
आदा णिच्छयणयदो चेदणभावं खु आदस्स।।९।।

गाथार्थ– व्यवहार नय से आत्मा सुख-दुख रूप पुद्गल कर्मों के फल को भोगता है और निश्चय नय से अपने चेतन भाव को भोगता है।

विशेषार्थ– आत्मा शुद्धनय से विकार रहित, परम आनंद लक्षण वाले ऐसे सुख

रूपी अमृत को भोगने वाला है फिर भी अशुद्ध नय से वही आत्मा सांसारिक सुख-दुख का भी भोगने वाला है ऐसा इस गाथा में स्पष्ट किया है–इस गाथा की टीका करते हुए टीकाकार श्री ब्रह्मदत्त जी ने लिखा है कि यह आत्मा अपने शुद्ध आत्मा अनुभव से उत्पन्न पारमार्थिक सुखरूप अमृत रस का भोजन न प्राप्त करता हुआ उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से इष्ट, अनिष्ट, पांचों इन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न सुख-दुख को भोगता है, उसी तरह अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से अंतरंग में सुख-दुख को उत्पन्न करने वाले द्रव्य कर्म रूप साता-असाता के उदय को भोगता है तथा अशुद्ध निश्चयनय से वही आत्मा हर्ष, विषाद रूप सुख दुख को भोगता है और शुद्ध निश्चयनय से परमात्म स्वभाव के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और आचरण से उत्पन्न अविनाशी आनंद रूप वाले सुखामृत को भोगता है।

यहाँ पर जिस स्वाभाविक सुखामृत के भोजन के अभाव से आत्मा इन्द्रियों के सुखों को भोगता हुआ संसार में भ्रमण करता है वही अतीन्द्रिय सुख सब प्रकार से ग्रहण करने योग्य है, ऐसा अभिप्राय है। बौद्ध मत की ऐसी मान्यता है कि " कर्ता कर्म के फल को नहीं भोगता है" इस गाथा से इस मत का खण्डन होकर जीव कर्मफल का भोक्ता है यह सिद्ध हो जाता है।

अणुगुरुदेहपमाणो उपसंहारप्पसप्पदो चेदा।
असमुहदो ववहारा णिच्छयणयदो असंखदेसो वा।।१०।।

गाथार्थ–व्यवहारनय से यह जीव समुद्घात के बिना संकोच तथा विस्तार से अपने छोटे या बड़े शरीर के प्रमाण रहता है और निश्चय नय से असंख्यात प्रदेशों का धारक है ।

विशेषार्थ–सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य श्री नेमिचन्द्र देव ने द्रव्यसंग्रह की गाथाओं में स्थान-स्थान पर निश्चयनय और व्यवहार नय दोनों नयों के द्वारा कथन करते हुये वस्तु तत्व को प्रतिष्ठापित किया है क्योंकि केवली भगवान का कथन भी दोनों नयाश्रित है इसीलिए 'निरपेक्षानया मिथ्या' कहा गया है अर्थात् जो नय दूसरे नय की अपेक्षा नहीं रखता है, उसका कथन एकान्त होने से मिथ्या कहलाता है।

गाथा में शरीर को " अणुगुरु देह पमाणो" कहा है अर्थात् यह जीव संसार में भ्रमण करता हुआ नाम कर्म के उदय से विभिन्न प्रकार के शरीर को धारण करता है उसमें सबसे लघु शरीर अणु मात्र है। यहां अणु शब्द से उत्सेध घनांगुल के असंख्यातवें भाग परिणाम जो लब्धि अपर्याप्तक सूक्ष्म निगोद शरीर है, उस शरीर का ग्रहण किया गया है एवं गुरु शब्द से एक हजार योजन प्रमाण जो महामत्स्य का शरीर है उसको ग्रहण किया जाना है तथा मध्यम अवगाहना में समस्त मध्यम शरीरों का ग्रहण हो जाता है।

इसका अभिप्राय यह है कि व्यवहार नय से यह जीव कर्म के उदय से जिस पर्याय

में जाता है उस पर्याय के अनुसार उस परिमाण वाला शरीर ग्रहण कर लेता है अतः उसी शरीर के परिमाण अपनी आत्मा के समस्त प्रदेशों को उसमें समाविष्ट करके रहता है । यह आत्मा का संकोच व विस्तार नाम का गुण है, उसी के कारण आत्मा के प्रदेश संकुचित एवं विस्तृत हो जाते हैं।

प्रत्यक्षगोचर नाना प्रकार की अवगाहना वाले त्रस जीव संसार में दिख रहे हैं। चींटी से लेकर हाथी तक तो जीव वर्तमान में सभी को दिख ही रहे हैं, इन सभी में आत्मा एक समान असंख्यात प्रदेशी है। केवल संकोच–विस्तार की शक्ति के कारण आत्मा के प्रदेश संकुचित व विस्तृत हो गये हैं, प्रदेशों की संख्या में कोई अन्तर नहीं है। यह सब व्यवहार नय का कथन है क्योंकि निश्चयनय से ही आत्मा असंख्यात प्रदेशी है। यदि दोनों नयों का कथन सापेक्ष रूप में न कहा जाये तो दोनों के कथन एक–दूसरे से बिल्कुल उल्टे होने से कौन सत्य है, कौन असत्य है ऐसा संशय उत्पन्न होगा तथा एक को सत्य मानने से दूसरा झूठा—मिथ्या हो जायेगा लेकिन सिद्धान्त की दृष्टि से एवं तत्व सिद्धि की दृष्टि से दोनों सत्य हैं इसीलिए किसी भी नय को सच्चा या झूठा नहीं कह सकते हैं ।

व्यवहार नय झूठा है या निश्चयनय सच्चा है, ऐसा नहीं कह सकते, नय दोनों मिथ्या हो जायेंगे । जैन धर्म के स्याद्वाद ,अनेकांत सिद्धान्त में नयों की सापेक्षता प्रत्येक कथन में आवश्यक कही गई है।

उपरोक्त गाथा की टीका करते हुए श्री ब्रह्मदेव जी ने कहा है—

निश्चयनय से देह से भिन्न तथा केवलज्ञान आदि अनंत गुणों की राशि से अभिन्न, ऐसे शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति के अभाव से तथा देह की ममता के मूलभूत आधार आहार, भय, मैथुन, परिग्रह इन चार संज्ञाओं के ग्रहण से, समस्त रागादि विभावों में आसक्ति होने से जीव ने जो शरीर नामकर्म का उपार्जन किया, उसका उदय आने पर अपने छोटे तथा बड़े देह के बराबर उत्पन्न होता है। टीका करते हुए स्वयं टीकाकार ने प्रश्न उठाया है कि शरीर प्रमाण वाला कौन है, उत्तर दिया 'चेदा' अर्थात् जीव है। फिर प्रश्न उठाया किस कारण से छोटा बड़ा शरीर धारण करता है " संकोच तथा विस्तार स्वभाव से"। यानी शरीर नाम कर्म से उत्पन्न हुआ विस्तार तथा संकोच रूप जीव के धर्म हैं । उनसे यह जीव अपने देह के प्रमाण होता है। इस बात को एक उदाहरण के द्वारा समझाया गया है। जैसे—एक दीपक किसी बड़े पात्र से ढक दिया जावे तो उसका प्रकाश उतने विस्तार में फैल जाता है। उसी दीपक को यदि कमरे में रख दिया जावे तो उस प्रमाण प्रकाश को विस्तृत कर देता है। ठीक इसी प्रकार आत्मा के प्रदेशों में संकोच एवं विस्तार का गुण होने से किसी भी प्राप्त शरीर में संकुचित अथवा विस्तृत होकर रह जाता है।

गाथा में "असमुद्दो" शब्द आया है अर्थात् 'असमुद्घात' । समुद्घात की सात

अवस्थाएं बताई गई हैं।

१. वेदना, २. कषाय, ३. विक्रिया, ४. मारणान्तिक, ५. तैजस , ६. आहारक, ७. केवली। इन सातों समुद्घातों का स्वरूप इस प्रकार है, समुद्घात का लक्षण बताते हैं–

"अपने मूल शरीर को न छोड़ते हुए जो आत्मा के कुछ प्रदेश देह से बाहर निकलकर उत्तर देह के प्रति जाते है उसको समुद्घात कहते हैं।"

१. तीव्र पीड़ा के अनुभव से मूल शरीर न छोड़ते हुए जो आत्मा के प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना होता है वह वेदना समुद्घात है।

२. तीव्र क्रोधादिक कषाय के उदय से अपने धारण किये हुए शरीर को न छोड़ते हुए जो आत्मा के प्रदेश दूसरे को मारने के लिए शरीर के बाहर जाते हैं, उसको कषाय समुद्घात कहते हैं।

३. किसी प्रकार की विक्रिया (छोटा या बड़ा शरीर अथवा अन्य शरीर) उत्पन्न करने के लिए मूल शरीर को न त्याग कर जो आत्मा के प्रदेशों का बाहर जाना है, उसको विक्रिया समुद्घात कहते हैं।

४. मरण के समय में मूल शरीर को न त्याग कर जहां इस आत्मा ने आगामी आयु बांधी है, उसके छूने के लिए जो आत्मप्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना है, सो मारणान्तिक समुद्घात है।

५. अपने मन को अनिष्ट उत्पन्न करने वाले किसी कारण को देखकर क्रोधित, संयम के निधान महामुनि के बायें कंधे से सिन्दूर के ढेर जैसी कान्ति वाला, बारह योजन लम्बी, सूच्यंगुल के संख्यात भाग प्रमाण मूल विस्तार और नौ योजन के अग्र विस्तार वाला, काहल (विलाव) के आकार का धारक पुरुष निकलकर बांयी प्रदक्षिणा देकर, मुनि जिस पर क्रोधित हो उस विरुद्ध पदार्थ को भस्म करके और उसी मुनि के साथ आप भी भस्म हो जावे। जैसे–द्वीपायन मुनि के शरीर से पुतला निकलकर द्वारिका नगरी को भस्म करने के बाद उसी ने द्वीपायन मुनि को भी भस्म कर दिया और वह पुतला भी स्वयं भस्म हो गया। यह अशुभ तैजस समुद्घात है।

जगत को रोग, दुर्भिक्ष आदि से दुःखित देखकर जिसको दया उत्पन्न हुई हो, ऐसे परम संयमनिधान महाऋषि के मूल शरीर को न त्याग कर पूर्वोक्त देह के प्रमाण, सौम्य आकृति का धारक पुरुष दाएं कंधे से निकलकर दक्षिण प्रदक्षिणा करके रोग, दुर्भिक्ष आदि को दूर कर फिर अपने स्थान में आकर प्रवेश कर जावे वह "शुभ तैजस समुद्घात" है।

६. पद और पदार्थ में जिसको कुछ संशय उत्पन्न हुआ हो, उस परम ऋद्धि के धारक महर्षि के मस्तक से मूल शरीर को न छोड़कर, निर्मल स्फटिक के रंग का एक हाथ का पुतला निकलकर अन्तर्मुहूर्त में जहां कहीं भी केवली को देखता है तब उन

केवली के दर्शन से अपने आश्रय मुनि को पद और पदार्थ का निश्चय कराकर फिर अपने स्थान में प्रवेश कर जावे, सो आहारक समुद्घात है।

७. केवलियों के जो दण्ड-कपाट-प्रतर-लोकपूरण होता है, सो सातवां केवलि समुद्घात है।

इस प्रकार इन सातों समुद्घातों की अवस्था को छोड़कर यह जीव व्यवहारनय से छोटा या बड़ा शरीर धारण करने वाला है तथा निश्चयनय से असंख्यात प्रदेशी है यह बात सिद्ध हो जाती है।

पुढविजलतेयवाऊ वण्णफ्फदी विविहथावरेइंदी।
विगतिगचदुपंचक्खा तसजीवा होंति संखादा।।११।।

गाथार्थ– पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति इन भेदों से नाना प्रकार के स्थावर जीव हैं और ये सब एक स्पर्शन इन्द्रिय के ही धारक हैं तथा शंख आदि दो, तीन, चार और पांच इन्द्रियों के धारक त्रस जीव होते हैं।

विशेषार्थ– सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य श्री नेमिचन्द्र देव ने द्रव्यानुयोग संबंधी एक छोटे से ग्रंथ द्रव्यसंग्रह की प्रत्येक गाथा में निश्चयनय व व्यवहारनय के प्रतिपादन की शैली प्रयुक्त की है। जैसा कि इस गाथा में प्रतिपादित विषय को देखा जा सकता है । द्रव्यानुयोग प्रायः निश्चयनय-द्रव्यार्थिक नय की प्रमुखता से तत्व का कथन करता है लेकिन व्यवहार नय को भी गौणरूपेण स्वीकार करता है।

इस गाथा में जीव को पृथ्वी, जल, अग्नि आदि एकेन्द्रिय रूप तथा दो इन्द्रिय आदि त्रस रूप बताया गया है यह जीवों में इन्द्रिय की अपेक्षा से भेद करना व्यवहार नय का कार्य है। निश्चयनय तो जीव को अनंतज्ञान, अनंतवीर्य स्वरूप एक आत्मा स्वीकार करता है, वहाँ पर एकेन्द्रिय आदि भेद आत्मा में नहीं है, आत्मा को नित्य, निरंजन, परमानंद स्वरूप एक शाश्वत सुखमय द्रव्य माना गया है इसीलिए निश्चयनय और व्यवहार इन दोनों नयों के कथन में परस्पर विरुद्धता होते हुए भी एक-दूसरे के कथन सापेक्ष रहते हैं।

गाथा की टीका करते हुए श्री ब्रह्मदेव जी ने लिखा है– अल्पज्ञ जीव अतीन्द्रिय, अमूर्तिक अपने परमात्म स्वभाव के अनुभव से उत्पन्न सुख रूपी अमृत रस को न पाकर के इन्द्रियों से उत्पन्न तुच्छ सुख की अभिलाषा करते हैं । उस इन्द्रियजनित सुख में आसक्त होकर एक इन्द्रिय आदि जीवों का घात करते हैं, उस जीव घात से उपार्जन किये त्रस स्थावर नामकर्म के उदय से स्वयं त्रस स्थावर हो जाते हैं। केवल स्थावर ही नहीं होते बल्कि दो, तीन,चार तथा पांच इन्द्रियों वाले त्रस नाम कर्म के उदय से त्रस जीव भी होते हैं।

सारांश यह है कि निर्मल ज्ञान, दर्शन स्वभाव निज परमात्मस्वरूप की भावना से

उत्पन्न जो पारमार्थिक सुख है उसके अभाव में जीव सांसारिक सुखों में आसक्त होकर जो एक इन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक जीवों की हिंसा करते हैं उसके परिणामस्वरूप आगामी पर्याय में यही अज्ञानी जीव त्रस अथवा स्थावर योनियों को प्राप्त कर लेता है । इसी त्रस-स्थावर के दुःखों को मिटाने के लिये अहिंसा व्रत का पालन करके जीव निश्चयनय से बताए गये शुद्ध, बुद्ध आत्मा को प्राप्त कर सकता है । मनुष्य पर्याय पाकर बड़े पुण्य से उच्च कुल प्राप्त हुआ है अतः हिंसादि पापों से बचकर संयम को धारण करते हुये अपनी आत्मा का कल्याण हो ऐसा उपाय अवश्य करना चाहिये।

मग्गणगुणठाणेहि य चउदसहि हवंति तह असुद्धणया।
विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ।।१३।।

अर्थ– संसारी जीव अशुद्ध नय की दृष्टि से चौदह मार्गणा तथा चौदह गुणस्थानों के भेद से चौदह-चौदह प्रकार के होते हैं और शुद्धनय से सभी संसारी जीव शुद्ध हैं।

विशेषार्थ– द्रव्यसंग्रह की उपरोक्त गाथा में आचार्य श्री नेमिचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने संसार में रहने वाले जीवों को समझने की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए अशुद्ध नय एवं शुद्धनय इस प्रकार दोनों नयों के द्वारा जीव के स्वरूप का वर्णन किया है । इसी गाथा में उत्तरार्ध के अनुसार संसार के सभी जीव शुद्ध हैं, यह कथन शुद्धनय की दृष्टि का है परन्तु गाथा के पूर्वार्द्ध के अनुसार संसारी जीव १४ गुणस्थान एवं १४ मार्गणा स्वरूप हैं, यह कथन अशुद्धनय की दृष्टि का है। चूंकि संसारी जीव की स्थिति भेद रूप प्रत्यक्ष में दिख रही है इसीलिए टीकाकार ने १४ गुणस्थान एवं १४ मार्गणा का वर्णन इस गाथा की टीका में किया है। यहाँ पर १४ गुणस्थानों का विस्तृत वर्णन आगम के अनुसार है—

मिच्छो सासण मिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य।
विरदा पमत्त इदरो अपुव्व अणियट्टि सुहमो य ।।
उवसंत खीणमोहो सजोगिकेवलिजिणो अजोगी य।
चउदस गुणठाणाणि य कमेण सिद्धा य णायव्वा।।

१. मिथ्यात्व, २. सासादन, ३. मिश्र, ४. अविरत सम्यक्त्व, ५. देशविरत, ६. प्रमत्तविरत, ७. अप्रमत्तविरत, ८. अपूर्वकरण, ९. अनिवृत्तिकरण , १०. सूक्ष्मसांपराय, ११. उपशांत मोह, १२. क्षीणमोह, १३. सयोगिकेवली, १४. अयोगिकेवली।

१. मिथ्यात्व—स्वाभाविक शुद्धि केवलज्ञान, केवलदर्शन रूप अखंड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय निज परमात्मा आदि षट् द्रव्य , पांच अस्तिकाय, सात तत्व और नव पदार्थों में तीन मूढ़ता आदि पच्चीस दोष रहित वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए नयविभाग से जिस जीव के श्रद्धान नहीं है वह जीव मिथ्यादृष्टि होता है।

२. सासादन—पाषाणरेखा के समान जो अनन्तानुबंधी क्रोध मान, माया और

लोभ में से किसी एक के उदय से प्रथम औपशमिक सम्यक्त्व से गिरकर जब तक मिथ्यात्व को प्राप्त न हो, तब तक सम्यक्त्व और मिथ्यात्व इन दोनों के बीच के परिणाम वाला जीव सासादन होता है।

३. मिश्र—जो अपने शुद्ध आत्मा आदि तत्वों को वीतराग सर्वज्ञ के कहे अनुसार मानता है और अन्य मत के अनुसार भी मानता है वह मिश्र दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से दही और गुड़ मिले हुए पदार्थ की भांति मिश्र गुणस्थान वाला है।

४. अविरत सम्यक्त्व—जो स्वाभाविक अनंतज्ञान आदि अनंतगुण का आधारभूत निज परमात्म द्रव्य उपादेय है तथा इन्द्रिय सुख आदि परद्रव्य त्याज्य है, इस तरह सर्वज्ञ देव प्रणीत निश्चय व व्यवहारनय को साध्य साधक भाव से मानता है परन्तु भूमि की रेखा के समान क्रोध आदि अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से मारने के लिए कोतवाल से पकड़े हुए चोर की भांति आत्मनिन्दादि से सहित होकर इन्द्रिय सुख का अनुभव करता है यह अविरतसम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थानवर्ती का लक्षण है।

५. **देशविरत**– पूर्वोक्त प्रकार से सम्यग्दृष्टि होकर भूमि रेखादि के समान क्रोधादि अप्रत्याख्यानावरण द्वितीय कषायों के उदय का अभाव होने पर अंतरंग में निश्चयनय से एकदेश राग आदि से रहित स्वाभाविक सुख के अनुभव लक्षण तथा बाह्य विषयों में हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और अपरिग्रह इनके एकदेश त्याग रूप पांच अणुव्रतों में और "दर्शन,ज्ञान, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तविरत, रात्रिभुक्तित्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रह त्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्ट त्याग" इस गाथा में कहे हुए श्रावक के एकादश स्थानों में से किसी एक में वर्तने वाला है वह पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक होता है।

६. **प्रमत्तविरत**– जब वही सम्यग्दृष्टि धूलि की रेखा के समान क्रोध आदि प्रत्याख्यानावरण तीसरी कषाय के उदय का अभाव होने पर निश्चयनय से अंतरंग में राग आदि उपाधि रहित, निज शुद्ध अनुभव से उत्पन्न सुखामृत के अनुभव लक्षण रूप और बाहरी विषयों में सम्पूर्ण रूप से हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह के त्याग रूप ऐसे पांच महाव्रतों का पालन करता है, तब वह बुरे स्वप्न आदि प्रकट तथा अप्रकट प्रमाद सहित होता हुआ छठे गुणस्थानवर्ती प्रमत्तसंयत होता है।

७. **अप्रत्तविरत**– वही जलरेखा के समान संज्वलन कषाय का मन्द उदय होने पर प्रमाद रहित जो शुद्ध आत्मा का अनुभव है उसमें मल उत्पन्न करने वाले व्यक्त-अव्यक्त प्रमादों से रहित होकर सप्तम गुणस्थानवर्ती अप्रमत्तसंयत होता है।

८. **अपूर्वकरण**– वही अतीव संज्वलन कषाय का मन्द उदय होने पर, अपूर्व परम आल्हाद एक सुख के अनुभव रूप अपूर्वकरण में उपशमक या क्षपक नामक अष्टम गुणस्थानवर्ती होता है।

९. **अनिवृत्तिकरण–** देखे, सुने और अनुभव किये हुए भोगों की वांछादिरूप संपूर्ण संकल्प तथा विकल्प रहित अपने निश्चय परमात्मस्वरूप के एकाग्र ध्यान के परिणाम से जिन जीवों के एक समय में परस्पर अन्तर नहीं होता वे वर्ण तथा संस्थान के भेद होने पर भी अनिवृत्तिकरण उपशमक या क्षपक संज्ञा के धारक अप्रत्याख्यानावरण द्वितीय कषाय आदि २१ प्रकार की चारित्रमोहनीय कर्म की प्रकृतियों के उपशमक और क्षपण में समर्थ नवम गुणस्थानवर्ती जीव हैं।

१०. **सूक्ष्मसांपराय–** सूक्ष्म परमात्मतत्व भावना के बल से जो सूक्ष्म कृष्टि रूप लोभ कषाय के उपशमक और क्षपक हैं वे दशम गुणस्थानवर्ती हैं ।

११. **उपशांतमोह–** परम उपशममूर्ति निज आत्मा के स्वभाव अनुभव के बल से सम्पूर्ण मोह को उपशम करने वाले ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती होते हैं।

१२. **क्षीणमोह–** उपशय श्रेणी से भिन्न क्षपक श्रेणी के मार्ग से कषाय रहित शुद्ध आत्मा की भावना के बल से जिनके समस्त कषाय नष्ट हो गये हैं वे बारहवें गुणस्थानवर्ती होते हैं।

१३. **सयोगिकेवली–** मोह के नाश होने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त काल में ही निज शुद्ध आत्मानुभव रूप एकत्ववितर्क अविचार नामक द्वितीय शुक्लध्यान में स्थित होकर उसके अन्तिम समय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय इन तीनों को एक साथ एक काल में सर्वथा निर्मूल करके मेघपटल से निकले हुए सूर्य के समान सम्पूर्ण निर्मल केवलज्ञान किरणों से लोक-अलोक के प्रकाशक तेरहवें गुणस्थानवर्ती जिनसूर्य होते हैं।

१४. अयोगिकेवली—मन-वचन-काय-वर्गणा के अवलम्बन से कर्मों के ग्रहण करने में कारण जो आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्द रूप योग है उससे रहित चौदहवें गुणस्थानवर्तीं अयोगिजिन होते हैं ।

इन १४ गुणस्थानों से ऊपर निश्चयरत्नत्रयात्मक कारणभूत समयसार नामक जो परम यथाख्यात चारित्र है उससे पूर्वोक्त १४ गुणस्थानों से रहित तथा सम्यक्त्व आदि अष्ट गुणों में गर्भित अनंत गुणों से युक्त सिद्ध परमेष्ठी होते हैं।

शुद्धनय से इस प्रकार के सिद्धों का स्वरूप संसारी जीव में शक्ति रूप से विद्यमान है—

णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा।
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता।।१४।।

गाथार्थ– सिद्ध भगवान ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित हैं, सम्यक्त्व आदि आठ गुणों के धारक हैं और अंतिम शरीर से कुछ कम आकार वाले हैं तथा ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण लोक के अग्रभाग में स्थित हैं, नित्य हैं तथा उत्पाद, व्यय से युक्त हैं।

विशेषार्थ– जीवों के तीन भेद हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा । इनमें से दो प्रकार के जीव बहिरात्मा और अन्तरात्मा तो संसारी जीव ही हैं, तीसरे प्रकार के

जीवों के २ भेद हैं—एक सकल परमात्मा और दूसरे निकल परमात्मा। सकल परमात्मा शरीर रहित होते हैं। तेरहवें-चौदहवें गुणस्थानों में रहने वाले परमात्मा पद को प्राप्त जीव सकल परमात्मा कहे जाते हैं। इन गुणस्थानों से ऊपर गुणस्थानातीत अवस्था सिद्धों की है, ये ही निकल परमात्मा हैं। इन्हीं निकल परमात्मा को सिद्ध संज्ञा है जिनका वर्णन द्रव्यसंग्रह की इस गाथा में किया गया है।

आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती देव ने सिद्ध पद प्राप्त जीवों का लक्षण करते हुए लिखा है—सिद्ध भगवान ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों से रहित हैं इससे यहां पर यह समझना चाहिए कि करणानुयोग के अनुसार कर्म आठ होते हैं और आठों कर्मों से पूर्णरूपेण रहितपना सिद्ध अवस्था में ही होता है इसलिए यह सिद्धों का आठ कर्म रहितपने का विशेषण उन्हीं के लिए लागू होता है अन्य किसी प्रकार के जीव में यह विशेषण असंभावित है।

इसी प्रकार सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्म, अवगाहन, अगुरुलघु और अव्याबाध ये ८ गुण सिद्धों में पाए जाते हैं । इसके बाद लिखा है कि अन्तिम शरीर से कुछ कम शरीर के आकार वाले हैं। १४वें गुणस्थान के अंतिम समय में जब शरीर का विनाश होकर शेष कर्म प्रकृतियाँ नष्ट हो जाती हैं और आत्मा शरीर से पृथक हो जाता है उस समय के शरीर का जो आकार होता है उससे कुछ कम अवगाहना वाला आकार सिद्ध अवस्था में उन सिद्ध भगवान का रहता है। यद्यपि सिद्ध भगवान सिद्ध अवस्था में आकार रहित हैं फिर भी व्यवहार नय की अपेक्षा से यह कथन है। गाथा की दूसरी पंक्ति के अनुसार सिद्ध भगवान लोक के अग्र भाग पर विराजमान हैं, जहां तक लोकाकाश है वहीं तक जाकर रुक जाते हैं। इसके साथ ही सिद्ध भगवान उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य से भी युक्त हैं क्योंकि मनुष्यपर्याय का नाश हो चुका है, सिद्ध पर्याय का उत्पात हो चुका है एवं आत्मा ध्रौव्य रूप से दोनों अवस्था में है ही, इस प्रकार सिद्ध भगवान् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के जीव में सर्वश्रेष्ठ सर्व सुखी एवं सम्पूर्ण कर्मरहित आत्मा हैं। जैन धर्म की यह विशेषता है कि कोई भी संसारी जीव सिद्धों के धर्म का अनुसरण करके सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर सकता है जिसके लिए केवल जैनागम का अभ्यास और तदनुरूप आचरण आवश्यक है।

सम्यग्ज्ञान के बारे में कहा है—

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं रूवमप्पणो तं तु ।
दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जह्मि।।४१।।

अर्थ—जीव आदि पदार्थों का श्रद्धान करना, सम्यक्त्व है। वह सम्यक्त्व आत्मा का स्वरूप है तथा इस सम्यक्त्व के होने पर (संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय इन तीनों) दुरभिनिवेशों से रहित सम्यग्ज्ञान होता है।।४१।।

विशेषार्थ—इस गाथा की टीका करते हुए श्री ब्रह्मदेव जी ने लिखा है कि

वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए शुद्ध जीव आदि तत्वों में चल, मलिन, अगाढ़ रहित श्रद्धान, रुचि, निश्चय अथवा जो जिनेन्द्रदेव ने कहा है वही है ऐसी निश्चय रूप बुद्धि सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन आत्मा का परिणाम है। उस सम्यग्दर्शन के माहात्म्य को बताते हैं— जिस सम्यक्त्व के होने से ज्ञान सम्यक् हो जाता है, यह पुरुष है या काठ का ठूंठ है ऐसे दो कोटिरूप चलायमान संशयज्ञान, गमन करते हुए तृण आदिक के स्पर्श होने पर यह निश्चय न होना कि किसका स्पर्श हुआ है ऐसा विभ्रमज्ञान तथा सीप के टुकड़े में चांदी का ज्ञान ऐसा विमोह ज्ञान–इन तीनों दोषों से रहित हो जाने पर वह ज्ञान सम्यक् हो जाता है।

इसी बात को एक दृष्टान्त द्वारा यहाँ बताया जा रहा है—पांच सौ–पांच सौ ब्राह्मणों को पढ़ाने वाले गौतम, अग्निभूति और वायुभूति नामक तीन ब्राह्मण विद्वान चारों वेद, ज्योतिष, व्याकरण आदि छहों अंग, मनुस्मृति आदि अठारह स्मृति ग्रंथ, महाभारत आदि अठारह पुराण तथा मीमांसा, न्याय आदि समस्त लौकिक शास्त्रों के ज्ञाता थे तो भी उनका ज्ञान सम्यक्त्व के बिना मिथ्याज्ञान ही था परन्तु प्रसिद्ध कथा के अनुसार श्री महावीर स्वामी तीर्थंकर के समवशरण में मानस्तंभ के देखने मात्र से ही आगम भाषा में दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय के उपशम, क्षय तथा क्षयोपशम से और अध्यात्म भाषा में निज शुद्ध आत्मा के सम्मुख परिणाम तथा काल आदि लब्धियों के विशेष से उनका मिथ्यात्व नष्ट हो गया, तब उनका वही मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञान हो गया। सम्यग्ज्ञान होते ही 'जयति भगवान' इत्यादि रूप से भगवान को नमस्कार करके केशलोंच के अनंतर ही मति–श्रुत–अवधि और मनःपर्यय इन चार ज्ञान तथा सात ऋद्धि के धारक होकर तीनों ही गणधर हो गये। गौतमस्वामी ने भव्य जीवों के उपकार के लिए द्वादशांग श्रुत की रचना की, फिर वे तीनों ही निश्चय रत्नत्रय की भावना के बल से मोक्ष को प्राप्त हुए। वे पंद्रह सौ ब्राह्मण शिष्य मुनि दीक्षा लेकर यथासम्भव स्वर्ग या मोक्ष में गये। ग्यारह अंगों का पाठी भी अभव्यसेन मुनि सम्यक्त्व के बिना मिथ्याज्ञानी ही रहा। इस प्रकार सम्यक्त्व के माहात्म्य से मिथ्याज्ञान, तपश्चरण, व्रत, उपशम, ध्यान आदि सब सम्यक् हो जाते हैं। विष मिले हुए दुग्ध के समान सम्यक्त्व के बिना ज्ञान, तपश्चरणादि सब वृथा हैं, ऐसा जानना चाहिए।

पञ्च महाव्रत धारण करने वाले महर्षि आयतन और दर्शन हैं

(बोधप्राभृतम् के आधार से)

(कतिपय विशेष गाथाओं पर)

मयरायदोस मोहो कोहो लोहो य जस्स आयत्ता।
पंच महव्वयधारी आयदणं महरिसी भणियं।।६।।

सिद्धं जस्स सदत्थं विसुद्धझाणस्स णाणजुत्तस्स।
सिद्धायदणं सिद्धं मुणिवरवसहस्स मुणिदत्थं।।७।।

अर्थ—मद, राग, द्वेष, मोह, क्रोध और लोभ जिसके अधीन हैं तथा जो पञ्च महाव्रतों को धारण करने वाले हैं, ऐसे महर्षि आयतन कहे गये हैं।

विशुद्ध ध्यान से सहित एवं केवलज्ञान से युक्त जिस श्रेष्ठ मुनि के निजात्मस्वरूप सिद्ध हुआ है अथवा जिन्होंने छह द्रव्य, सात तत्व, नव पदार्थ अच्छी तरह जान लिए हैं उन्हें सिद्धायतन कहा है।

विशेषार्थ–इन गाथाओं में आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने बताया है कि ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर इन आठ का आश्रय करके जो अहंकार होता है उसे मद कहते हैं। प्रीति करने को राग कहते हैं। अप्रीति रूप स्वभाव को द्वेष कहते हैं। स्त्री, पुत्र, तथा मित्र आदि के स्नेह को मोह कहते हैं। रोष रूप स्वभाव को क्रोध कहते हैं। मूर्च्छा रूप परिणाम अर्थात् परिग्रह को ग्रहण करने का जो स्वभाव है उसे लोभ कहते हैं। चकार शब्द से माया को ग्रहण किया है। दूसरों को ठगने का जो स्वभाव है उसे माया कहते हैं। ये सब मद आदि विकारी भाव हैं उनसे जो आचार्य, उपाध्याय, साधु रहित होते हैं अर्थात् जो साधुगण अपने जीवन में इन विकारी भावों को स्थान नहीं देते हैं वे "आयतन" कहे जाते हैं। इसी प्रकार से जो अहिंसा,सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह इन पांच महाव्रतों अथवा रात्रिभोजन त्याग सहित छह महाव्रतों का पालन करने वाले हैं ऐसे महर्षियों को आयतन कहा है, ये महर्षि संसार में वन्दनीय होते हैं।

यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि इन निर्ग्रन्थ दिगम्बर गुरुओं के अतिरिक्त अथवा मुनि, आर्यिका,श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ को छोड़ कर शेष अन्य कुलिंगों को धारण करने वाले लोग परमार्थ सिद्धि हेतु वन्दनीय नहीं हैं।

पुनः अगली सातवीं गाथा में स्पष्ट किया है कि विशुद्ध ध्यान से सहित एवं केवलज्ञान से युक्त जिस श्रेष्ठ मुनि के निजात्मस्वरूप सिद्ध हुआ है अथवा जिन्होंने छह द्रव्य, सात तत्व , नव पदार्थ अच्छी तरह जान लिए हैं उन्हें सिद्धायतन कहा है।

यूं तो जो अष्ट कर्मों से रहित हो चुके हैं उन्हें सिद्ध परमेष्ठी कहते हैं अतः वास्तविक सिद्धायतन तो वे सिद्ध भगवान् ही कहलाते हैं तथा उनके पथ का साक्षात् दिग्दर्शन कराने वाले भी जो विशुद्ध शुक्ल ध्यान से सहित हैं ऐसे गणधर देव, सामान्य केवली अथवा तीर्थंकर परम देव भी परम्परा से सिद्धायतन कहलाते हैं।

इस षट्प्राभृत ग्रन्थ के बोधप्राभृत में संयमी मुनियों की महिमा का विशेष रूप से वर्णन करते हुए आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने स्पष्ट किया है कि जो मन, वचन, काय से इन्द्रिय विषयों के प्रति उदासीन रहते हैं, जो पर पदार्थ से हटकर अपनी आत्मा से ही

अनुराग करते हैं ऐसे मुनियों का पौद्गलिक शरीर भी रत्नत्रय से पूज्य होने के कारण आयतन कहलाता है इसीलिए जिस स्थान पर इन मुनियों की समाधि होती है वे स्थान भी पूज्य आयतन रूप हो जाते हैं।

ऐसे गुरुओं की शुद्ध परंपरा आज भी इस पृथ्वीतल पर विद्यमान है। उनकी वैयावृत्ति, उपासना आदि करके हमें अपने जीवन को सफल बनाना चाहिए।

दंसेइ मोक्खमग्गं सम्मत्तं संजमं सुधम्मं च।
णिग्गंथं णाणमयं जिणमग्गे दंसणं भणियं।।१४।।

अर्थ– जो सम्यग्दर्शन, संयम और सुधर्म रूप मोक्षमार्ग को दिखाते हैं, प्रगट करते हैं अथवा मोक्षमार्ग का निरूपण करते हैं उस ज्ञानमय निर्ग्रन्थ रूप को जिनमार्ग में दर्शन कहा है।

विशेषार्थ– आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव ने इस गाथा में व्यवहार सम्यग्दर्शन का वर्णन किया है। प्रथम पंक्ति में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता को मोक्षमार्ग माना है । द्वितीय पंक्ति में ज्ञानमय निर्ग्रन्थ अवस्था अर्थात् मुनि अवस्था को ही जिनेन्द्र भगवान के शासन में दर्शन कहा है ।

तत्वार्थ सूत्र ग्रंथ के अनुसार 'तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं' अर्थात् तत्वार्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है।

पांच महाव्रत, पांच समिति एवं तीन गुप्ति रूप तेरह प्रकार का चारित्र धारण करना संयम या सम्यक्चारित्र कहलाता है।

उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य रूप दस धर्म को सुधर्म कहते हैं। बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह से रहित अवस्था को ही कुन्दकुन्द स्वामी ने निर्ग्रन्थ अवस्था निरूपित किया है। यह निर्ग्रन्थ अवस्था जीव-अजीव आदि पदार्थों का ज्ञाता होने से ज्ञानमय है। इस प्रकार जो सम्यग्दर्शन, संयम, सुधर्म, ज्ञानमय और निर्ग्रन्थ रूप मोक्षमार्ग का निरूपण करते हैं, उसको ही जिनेन्द्र भगवान के शासन में दर्शन अर्थात् सम्यग्दर्शन कहा है।

परमार्थ से सात प्रकृतियों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम से होने वाला सम्यक्त्व ही दर्शन कहलाता है लेकिन बाह्य में विभिन्न प्रकार से दर्शन का निरूपण स्थान-स्थान पर किया गया है। यहां पर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र सहित निर्ग्रन्थ अवस्था अर्थात् दिगम्बर मुनि के स्वरूप को ही दर्शन स्वीकार किया गया है, यह भी सम्यग्दर्शन का एक प्रकार है।

यहां आधार-आधेय भाव का वर्णन है जिस प्रकार घी से भरे हुए घड़े को घी कह देते हैं। छाता लिये हुये व्यक्ति को छाता कह देते हैं । रिक्शा चलाने वाले आदमी को ही रिक्शा कहकर संबोधित कर देते हैं उसी प्रकार जिस आधार में दर्शन रहता है उसे ही

यहां पर दर्शन कह दिया है क्योंकि मुनि अवस्था सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप मानी गई है इसलिए सम्यग्दर्शन का आधार मुनि अवस्था हो गई अतः मुनि को निर्ग्रन्थ रूप सम्यग्दर्शन कह दिया गया है।

टीका में भी कहा है कि जो यति और श्रावक का आधारभूत है अर्थात् निर्ग्रन्थ रूप, उसका श्रद्धान करने से ही यतिव्रत और श्रावक व्रत या अविरत सम्यग्दृष्टि पद प्राप्त हो सकता है। निर्ग्रन्थ लिंग के श्रद्धान बिना यति, श्रावक और अविरत सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता है ।

सच्चा योगी कौन है

(सूत्रप्राभृतम् ग्रंथानुसार)

(कतिपय विशेष गाथाओं पर)

जं सुत्तं जिणउत्तं ववहारो तह य जाण परमत्थो।
तं जाणिऊण जोई लहइ सुहं खवइ मलपुंजं।।६।।

गाथार्थ–जिनेन्द्र भगवान ने जो सूत्र कहा है उसे व्यवहार और निश्चय रूप जानो। उसे जानकर योगी आत्मसुख को प्राप्त होते हैं तथा पाप पुंज को नष्ट करते हैं।

विशेषार्थ–अध्यात्मशिरोमणि आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव ने सूत्रप्राभृतम्—सुत्तपाहुड़ ग्रंथ की रचना करते हुए उपरोक्त छठी गाथा में तीर्थंकर भगवान के द्वारा उपदिष्ट सूत्र अर्थात् आगम को व्यवहार और निश्चय दोनों नय रूप माना है, साथ में यह भी लिखा है कि "तं जाणिऊण जोई लहइ सुहं" अर्थात् उसे जानकर योगी मुनिराज सुख को प्राप्त होते हैं और "खवई मलपुञ्जम्" अर्थात् पापसमूह को नष्ट कर देते हैं।

शंका–कुछ लोग व्यवहार को हेय तथा निश्चय को उपादेय कहते हैं पुनः यहां पर दोनों का ग्रहण उपादेय कैसे है ?

समाधान–आगम में कहीं पर व्यवहार को हेय और निश्चय को उपादेय ऐसा नहीं कहा है। निश्चय और व्यवहार दोनों नय हैं और पदार्थ को जानने, कहने व समझने के लिए हैं। यदि दोनों नयों का समन्वय नहीं होगा तो वस्तु स्वरूप की सही परख ही नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए किन्हीं तीर्थंकर का वर्णन करना है तो तीर्थंकर भगवान के माता–पिता का नाम, उनके जन्मस्थान का नाम, शरीर की ऊंचाई, आयु, शरीर का वर्ण आदि अनेक बातों का वर्णन करते हैं तब उन तीर्थंकर भगवान की पहचान हो पाती है। यह सारा वर्णन करना और इसे इसी रूप से समझना यह व्यवहार नय का कार्य है, इसके बाद भगवान का वास्तविक शाश्वत स्वरूप क्या है? इसे बताने के लिए कहते हैं कि भगवान सर्वज्ञ हैं, वीतरागी हैं, हितोपदेशी हैं, अठारह दोषों से रहित हैं–इत्यादि प्रकार से जो वर्णन है यह भगवान की आत्मा का वर्णन है यह निश्चयनय का कथन है। निश्चयनय वस्तु के वर्तमान

स्वरूप का या मिश्रित स्वरूप का वर्णन करता है। कथन दोनों अपनी-अपनी अपेक्षा से सत्य हैं इसलिये कोई नय हेय और कोई उपादेय है, ऐसा कथन करना सही नहीं है।

समयसार ग्रन्थराज की गाथा ४६ की टीका करते हुए आचार्य श्री अमृतचंदसूरि ने लिखा है—

"व्यवहारो हि व्यवहारिणां म्लेच्छभाषेव म्लेच्छानां परमार्थप्रतिपादकत्वादपरमार्थोऽपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय एव। तमन्तरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात् त्रसस्थावराणां भस्मन इव निःशंकमुपमर्दनने हिंसाभावाद्भवत्येव बंधस्याभाव'। तथा रक्तो द्विष्टो विमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति रागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपाय परिग्रहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभावः।"

जिस प्रकार म्लेच्छ को म्लेच्छ भाषा में बताना पड़ता है उसी के समान व्यवहार नय अपरमार्थ होते हुए भी परमार्थ का हेतु होने से, तीर्थ कर प्रवृत्ति के लिए व्यवहार नय का कथन करना उपयुक्त ही है । व्यवहार नय के कथन बिना निश्चय नय से आत्मा भिन्न है, शरीर भिन्न है ऐसा समझकर त्रस-स्थावर जीवों को भस्म के समान उपमर्दन करने से हिंसा का अभाव मानना होगा।

और हिंसा का अभाव मानने से बंध का अभाव हो जायेगा। पुनःरागी, द्वेषी, विमूढ़, जीव कर्मों से बंधा हुआ है, उसे कर्मों से छूटना है लेकिन निश्चयनय से आत्मा राग, द्वेष, मोह से रहित है ऐसा समझकर मोक्ष का उपाय कौन ग्रहण करेगा और जब मोक्ष का उपाय ही नहीं ग्रहण करेगा तो मोक्ष का ही अभाव हो जायेगा।"

उपरोक्त कथन आचार्य श्री कुन्दकुन्द कृत समयसार की गाथा के टीकाकार का है—इस कथन से भी यह स्पष्ट है कि पात्र के अनुसार व्यवहारनय और निश्चयनय का कथन किया जाता है इसीलिए एक नय उपादेय एवं एक नय हेय है यह कथन कथमपि समीचीन नहीं है।

उपरोक्त छठी गाथा की टीका करते हुए टीकाकार श्री श्रुतसागरसूरि ने भी लिखा है—

"यथा नटो वंशावष्टम्भं कृत्वाभ्यासवशेन रज्जूपरि चलति पश्चादत्यभ्यासवशेन वंशं त्यक्त्वा निराधारतया रज्जूपरि गच्छति तथा व्यवहारावष्टम्भेन निश्चयनयमवलम्बते। तदनंतरं व्यवहारावष्टम्भेन त्यक्त्वा निश्चयनयमेवालम्वते इति भावः।"

"जिस प्रकार नट पहले बांस का सहारा लेकर अभ्यास करता हुआ रस्सी के ऊपर चलता है, पीछे पूरा अभ्यास हो जाने पर चलने लगता है , उसी प्रकार से यह मनुष्य पहले व्यवहारनय के आलम्बन से निश्चयनय का आलम्बन करता है, पीछे व्यवहार को भी छोड़कर एक निश्चय का ही आलम्बन करता है।"

सारांश—जिनागम का उपदेश व्यवहार और निश्चय दोनों नय रूप है। जिस समय एक नय को मुख्य किया जाता है उस समय दूसरा नय गौण हो जाता है परन्तु

अपरमार्थ समझकर सर्वथा हेय नहीं माना जा सकता है इसीलिए उपरोक्त गाथा में दोनों नयों को समान रूप से जानकर मुनिराज शाश्वत सुख को प्राप्त करते हैं तथा अपने कर्मों का क्षय करते हैं ऐसा कहा है। यही कथन ग्रहणीय एवं उपादेय है ऐसा समझकर कभी भी यह विचार नहीं करना चाहिए कि व्यवहार नय त्याज्य है और निश्चय ग्रहण करने योग्य है।

दोनों नयों का सापेक्ष अवलम्बन ही परंपरा से मोक्ष का कारण है।

उक्किट्ठसीहचरियं बहुपरियम्मो य गुरुयभारो य।
जो विहरइ सच्छंदं पावं गच्छंदि होदि मिच्छत्तं।।९।।
णिच्चेलपाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहिं।
एक्को वि मोक्खमग्गो सेसा य अमग्गया सव्वे।।१०।।

गाथार्थ– जो मुनि सिंह के समान निर्भय रहकर उत्कृष्ट चारित्र धारण करते हैं, अनेक प्रकार के परिक्रम–व्रत, उपवास आदि करते हैं तथा आचार्य आदि के पद का गुरुतर भार संभालते हैं परन्तु स्वच्छंद प्रवृत्ति करते हैं, आगम की आज्ञा का उल्लंघन करके मनचाही प्रवृत्ति करते हैं, वे पाप को प्राप्त होते हैं एवं मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं।।९।।

तीर्थंकर परमदेव ने नग्नमुद्रा के धारी निर्ग्रन्थ मुनि को ही पाणिपात्र में आहार लेने का उपदेश दिया है, यह एक निर्ग्रन्थ मुद्रा ही मोक्षमार्ग है इसके सिवाय सब अमार्ग हैं—मोक्ष के मार्ग नहीं हैं।।१०।।

विशेषार्थ– आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव ने मुनिराजों को सम्बोधित करने हेतु अनेक ग्रंथों की रचना की है। समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, मूलाचार आदि । उसी प्रकार इस "सूत्र प्राभृत" में भी स्थान-स्थान पर मुनियों को अपनी चर्या में दृढ़ रखने के लिए कटु शब्दों से संबोधित किया है। इसी का नमूना गाथा नं. ९ में देखिये—जो मुनि सिंह के समान निर्भय रहकर उत्कृष्ट चारित्र धारण करते हैं– इसका अभिप्राय है कि सिंह वन में रहकर भी हमेशा निर्भय रहता है किसी से उसे भय नहीं रहता। इसी प्रकार दिगम्बर जैन मुनि सिंहवृत्ति के धारक होते हैं। उन्हें किसी राजा का, चोर का, डाकू का, मारण का, किसी भी प्रकार का भय नहीं रहता है ऐसे मुनि अपनी कठोर चर्या के द्वारा कर्मों की प्रतिक्षण निर्जरा किया करते हैं तथा आगम में कहे अनेक प्रकार के व्रत—सिंह निष्क्रीड़ित , चारित्रशुद्धि , णमोकार मंत्र आदि अनेक प्रकार के व्रतों को करते हुए उपवास को धारण करते हैं। आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव कहते हैं कि यह सब करने के बाद भी यदि वे मुनिराज आगम की आज्ञा का पालन न करके स्वच्छंद प्रवृत्ति करते हैं तो पाप को प्राप्त होते हैं और मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं अर्थात् उनका चारित्र और सम्यक्त्व सब छूट जाता है। आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव ने ऐसे कठोर शब्द कहकर उन मुनिराजों को संबोधित किया है जो आगम के अनुकूल २८ मूलगुणों का पालन नहीं करते हैं

अथवा उनमें अनाचार लगाते हैं, कुन्दकुन्द स्वामी का ऐसा कहना यहां पर इसलिए है कि आपने सभी प्रकार के परिग्रहों को छोड़कर मुनि वेष धारण किया, इतना करने के बाद भी यदि तुमने स्वच्छंद प्रवृत्ति कर ली तो इतने बड़े पाप के भागी बनोगे कि मिथ्यादृष्टि हो जाओगे इसलिए अपने पद में रहकर पदानुकूल चर्या करके ही चारित्र एवं सम्यक्त्व दृढ़ रखा जा सकता है।

अगली गाथा नं.१० में एक बात और लिखी है कि नग्न मुद्रा दिगम्बर अवस्था ही एक मोक्षमार्ग है तथा दिगम्बर मुनिराज को ही पाणिपात्र में—हाथ में आहार लेने का विधान है। इस नग्नमुद्रा के अतिरिक्त अन्य जिनकी भी मुद्राएं हैं उन्हें तीर्थंकर परमदेव ने मोक्षमार्ग नहीं माना है बल्कि अमार्ग अर्थात् संसार मार्ग कहा है।

इसकी टीका करते हुये आचार्य श्री श्रुतसागर सूरी ने लिखा है दिगम्बर निर्ग्रन्थ वेष ही मोक्षमार्ग है, इसके सिवाय मृगचर्म, वृक्षों के वल्कल, कपास, रेशम और रोम से बने वस्त्र अर्थात् ऊनी वस्त्र, टाट तथा तृण, चटाई के वस्त्र को धारण करने वाले सभी लोग अमार्ग हैं–संसार के परिभ्रमण का हेतु होने से मोक्षमार्ग नहीं हैं, ऐसा भव्य जीवों को संबोधित करते हुए कहा है।

इसलिए खड़े होकर पाणिपात्र में आहार लेना यह केवल दिगम्बर वेषधारी ही कर सकता है अन्य के लिए विधान नहीं है, यदि करता है तो पाप का भागी होता है।

उपरोक्त कथन भी आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव ने मुनिराजों को आगम में दृढ़ रहने के लिए कहा है क्योंकि भय से या प्रलोभन से यदि कोई यह विचार करे कि नग्न रहने की बजाय नाना प्रकार के जो वेष हैं, जो सरल भी हैं तथा उनसे भी मोक्ष हो जायेगा तो नग्न रहकर अनावश्यक क्यों नग्नता का परीषह सहा जावे लेकिन किसी प्रकार के भी वस्त्रों को धारण करने वाला मोक्षमार्गी नहीं है यह स्पष्ट कर दिया गया है।

जो संजमेसु सहिओ आरंभपरिग्गहेसु विरओ वि।
सो होइ वंदणीओ ससुरासुरमाणुसे लोए।।११।।
जे बावीसपरीसह सहंति सत्तीसएहिं संजुत्ता।
ते होंति वंदणीया कम्मक्खयणिज्जरासाहू।।१२।।

अर्थ– जो मुनि संयम से सहित है तथा आरंभ व परिग्रह से रहित हैं वे सुर, असुर और मनुष्यों से इस संसार में वंदनीय हैं।।११।।

जो बाईस परिषह सहन करते हैं, सैकड़ों शक्तियों से सहित हैं तथा कर्मों के क्षय और निर्जरा करने में कुशल हैं ऐसे मुनिराज वंदना के योग्य हैं।।१२।।

विशेषार्थ– उपरोक्त गाथा में कुन्दकुन्द स्वामी ने स्पष्ट किया है कि जो मुनिराज संयम को धारण करते हैं तथा सेवा, कृषि, वाणिज्य आदि आरंभ के कार्य को नहीं करते हैं, १४ प्रकार के परिग्रह को छोड़ चुके हैं वे ही मुनिराज संसार में वंदना के योग्य होते

हैं। उपरोक्त कथन में आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव ने मुनिराजों को संबोधित किया है कि उन्होंने जिस संयम को धारण किया है वह संयम इन्द्रिय संयम व प्राणी संयम के भेद से दो प्रकार का है । इन्द्रिय संयम में स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु , कर्ण और मन इन छहों इन्द्रियों को वश में करना इन्द्रिय संयम कहलाता है तथा ५ स्थावर व त्रस जीवों की विराधना से रहित अपनी चर्या को पालना अर्थात् स्थावर व त्रस जीवों की रक्षा करना प्राणी संयम है। इसके अतिरिक्त आरंभ, परिग्रह को छोड़ने के बाद ही दीक्षा प्राप्त होती है, फिर भी यहाँ पर आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव के लिखने का अभिप्राय यही है कि सेवा, कृषि, वाणिज्य आदि आरंभ के कार्यों को छोड़ दिया है, पुनः उनसे कृत, कारित, अनुमोदना एवं मन, वचन, काय से दूर रहना आवश्यक है तथा क्षेत्र, मकान, धन, धान्य आदि बहिरंग व राग, द्वेष, क्रोध, मान, मिथ्यात्व आदि अंतरंग परिग्रह को त्यागने से ही मुनित्वपना आ सकता है। यदि छोड़ने के पश्चात् पुनः इनमें लालसा होती है अथवा इनका संग्रह होता है तो भी मुनित्वपना कैसे रह सकता है इसीलिए सब कुछ छोड़ने के पश्चात् पुनः उसमें द्रव्य रूप से अथवा भाव रूप से मुनिराज दूर रहकर अपने महाव्रत रूप संयम का पालन करें तभी सुर-असुर और मनुष्यों के द्वारा वंदनीय हो सकते हैं।

अगली गाथा में आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने लिखा है कि जो २२ परीषहों को सहन करते हैं अर्थात् क्षुधा-तृषा-शीत-उष्ण-दंशमशक-नाग्न्य -अरति-स्त्री - चर्या-निषद्या-शैय्या-आक्रोश- वध-याचना-अलाभ-रोग-तृणस्पर्श -मल-सत्कार पुरस्कार-प्रज्ञा - अज्ञान और अदर्शन ये बाईस परीषह हैं।

२८ मूलगुणों का पालन करते हुए जो मुनिराज समता भाव से इन २२ परिषहों को सहन करते हैं तथा अनेक प्रकार के व्रतों को धारण कर उपवास आदि के द्वारा तपश्चरण करते हैं ऐसे मुनिराज कर्मों के क्षय तथा निर्जरा में कुशल होते हैं, संसार में वंदनीय होते हैं। इन परिषहों का विस्तृत विवरण मूलाचार ग्रंथ अथवा पूज्य गणिनी आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा लिखित दिगम्बर मुनि ग्रंथ में देखा जा सकता है। हमारे पुराणों में अनेक स्थलों पर परीषहविजयी साधुओं के उदाहरण मिलते हैं तथा वर्तमान में चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज एवं उनकी परंपरा में आचार्यों एवं मुनिराजों ने अनेक परिषहों को सहन किया है। इसके उदाहरण भी प्रत्यक्ष में इस पंचमकाल में देखने को मिलते हैं।

२८ मूलगुणों को पालन करना, २२ परीषहों को सहन करना, आरंभ व परिग्रह से रहित रहना यही सब मुनियों की सामान्य चर्या है, इसके बिना तो मुनि हो ही नहीं सकते हैं। अपने मार्ग से मुनिराज डिगें नहीं, इसीलिए स्थान-स्थान पर कुंदकुंद स्वामी ने मुनिराजों को संबोधित करते हुए यह सब स्मरण कराया है। ऐसे मुनिराजों की वंदना करके श्रावकों को अपना जीवन सफल करना चाहिए।